उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किये बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१२ १९९३—जून अंक—६

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

सम्पादक :

डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक सम्पादक

शिशिर कुमार मल्लिक

सम्पादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

फोन : ०६१५२-४२६३९

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य —	५०० रु०
वार्षिक —	३० रु०
रजिस्टर्ड डाक से —	४५ रु०
एक प्रति —	४ रु०

रचनाएं एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

जो व्यक्ति माता, पिता या पत्नी से झगड़ा हो जाने के कारण वैरागी बन जाता है उसे 'खीझा हुआ वैरागी' कहते हैं। उसका वैराग्य दो दिन के लिए होता है, किसी बड़ी जगह अच्छी नौकरी मिल गयी, कि वह वैरागी जीवन छोड़ नौकरी करने लग जाता है।

(२)

मगर को जल की ऊपरी सतह पर तैरना बहुत अच्छा लगता है, पर उसके ऊपर आते ही लोग उसे मारने को दौड़ते हैं। बेचारा क्या करे, प्राणों के डर से मजबूर होकर उसे पानी के नीचे ही रहना पड़ता है, ऊपर नहीं आते बनता। परन्तु फिर भी बीच-बीच में मौका मिलते ही वह एक बार सूँ सूँ करता हुआ जल के ऊपर तैर लेता है। हे संसारी जीव, मैं जानता हूँ कि तुम्हें भी सच्चिदानन्द-सागर में तैरने की इच्छा होती है, पर स्त्री-पुत्र-परिवार के बोझ के कारण तुम्हें संसार में डूबे रहना पड़ता है। परन्तु फिर भी बीच-बीच में मौका पाते ही भगवान् का स्मरण करो, व्याकुल होकर उनसे प्रार्थना करो, उन्हें अपना दुःख-कष्ट जताओ। योग्य समय पर अवश्य ही वे तुम्हें मुक्त करेंगे, आनन्द-सागर में तैरने की शक्ति देंगे।

(३)

जो ध्यान करते हुए इतना मग्न हो जाता है कि सिर पर चिड़ियों के बैठने पर भी समझ नहीं पाता, वही ठीक-ठीक ध्यान करता है।

श्रीरामकृष्ण के प्रिय भजन

अब तो भला विचार किया है

—स्वामी वागीश्वरानन्द

मूल बँगला भजन

(धुन—रामप्रसादी । ताल—एकताल)

एबार आमि भालो भेबेछि ।
भालो भावीर काछे भाव शिखेछि ।।ध्रु०।।
जे देशे रजनी नाइ
सेइ देशेर एक लोक पेयेछि ।
आमि किवा दिबा किबा संध्या
संध्यारे वंध्या करेछि ।।१।।

घुम भेंगेछे, आर कि घुमाइ,
युगे युगे जेगे आछि ।
योग निद्रा तोरे दिये मा,
घुमेरे घुम पाड़ायेछि ।।२।।

सोहागा गंधक दिये
खासा रंग चड़ायेछि ।
मणिमंदिर भेजे सबो
अक्ष दुटि कोरे कुंचि ।।३।।

प्रसाद बोले—भुक्ति-मुक्ति
उभये माथाय रेखेछि ।
आमि कालीब्रह्म जेने मर्म
धर्माधर्म सब छेड़ेछि ।।४।।

(—श्री राम प्रसाद)

भावानुवाद

(राग—झिंझोटी : ताल—कहरवा)

अब तो भला विचार किया है ।
अच्छे भाविकजन से मैंने
सही भाव वह सीख लिया है ।।ध्रु०।।

जहाँ नहीं निशि उसी देश का
एक आदमी मिला लिया है ।
क्या दिन, क्या निशि, संध्या को तो
मैंने बंध्या बना दिया है ।।१।।

नींद खुल गयी, अब क्या सोऊँ ?
युग युग से मन जाग गया है ।
सौंप योगनिद्रा तुझको माँ
निंदिया को ही सुला दिया है ।।२।।

मिला सुहागा-गंधक मैंने
सोने पर रंग चढ़ाया है ।
मणिमंदिर माँजने कूचिका
अक्षों को ही बना लिया है ।।३।।

'प्रसाद' ने भुक्ति-मुक्ति दोनों,
अपने सिर पर बिठा लिया है ।
'कालि ब्रह्म है'—मर्म जान यह,
सब धर्माधर्म तज दिया है ।।४।।

—(सारदातनय)

सर्वधर्म समभाव के शिरोमणि

—डा० ओंकार सक्सेना

'सभी धर्म सत्य हैं, जितने मत हैं उतने ही पथ हैं।" यह उदार मत, दार्शनिक विचार मन्थन का निचोड़ न होकर एक अनुपम आध्यात्मिक आविष्कार है। इसका आधार श्रीरामकृष्णदेव की प्रत्येक मत की साधना प्रणाली में प्रवृत्त होकर की गयी प्रत्यक्षानुभूतियां हैं तथा निर्दिष्ट लक्ष्य पर पहुँच कर उनके द्वारा अतिचेतन स्तर से एक सदी पूर्व की गयो घोषणा है।

स्वामी सारदानन्द लिखते हैं, "श्रीरामकृष्णदेव के समीप एक ही सम्प्रदाय के साधक वर्ग उपस्थित नहीं होते थे वरन् सभी सम्प्रदाय के साधक बहुसंख्या में आते थे और इसका कारण यह था कि उन सभी मार्गों से अग्रसर होकर उन्होंने उन सब ईश्वरीय भावों की सम्यक उपलब्धि की थी तथा उन समस्त मार्गों का वृत्तान्त वे विशेष रूप से बताने में समर्थ थे।।

सूफी दरवेश गोविन्दराय के सान्निध्य में श्रीरामकृष्णदेव इस्लाम के प्रति यह विचार करने लगे थे, "यह भी तो ईश्वर प्राप्ति का एक मार्ग है, अनन्त लीलामयी मां इस मार्ग के द्वारा भी कितने व्यक्तियों को अपना श्रीपादपद्म प्रदान कर कृतकृत्य कर रही हैं वह किस प्रकार से इस मार्ग के सहारे अपने आश्रितों को कृतार्थ करती हैं मुझे यह देखना होगा। गोविन्दराय से दीक्षा लेकर मैं भी इस भाव की साधना करूंगा।" इस विचार के प्रादुर्भाव के तदन्तर उन्होंने विधियत दीक्षा लेकर इस्लाम धर्म की साधना का अनुष्ठान किया था। श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे, "तब मैं अल्लाह मंत्र का जप किया करता था, मुसलमानों की तरह लाँग खोलकर धोती पहनता था, त्रिसंध्या नमाज पढ़ता था और उस समय मेरे मन में हिन्दुत्व का भाव एकदम विलुप्त हो जाने के कारण हिन्दू देवी-देवताओं को प्रणाम करना तो दूर रहा उनके दर्शन करने तक की प्रवृत्ति नहीं होती थी। इस प्रकार तीन दिन-रात बीतने के बाद मुझे उस मत का साधन फल सम्यक रूप से हस्तगत हुआ था। यह था एक लम्बी दाढ़ी युक्त ज्योतिर्मय महापुरुष का दिव्यदर्शन, सम्मिलन, तदुपरान्त ब्रह्मलीनावस्था।"

एक दिन यदुनन्दन मल्लिक के बैठकखाने में टंगी हुई मां की गोद में ईसा-मसीह की बालमूर्ति का अवलोकन तथा चिन्तन करते हुए श्रीरामकृष्ण देव ने देखा कि चित्र मानो जीवित तथा ज्योतिर्मय हो उठा एवं अद्भुत देवजननी तथा देव-शिशु से ज्योति-रश्मियां उनके हृदय में प्रविष्ट होकर उनके मानसिक भावों को समूल परिवर्तित किये दे रही हैं उनके मुख से निकला, "मां तू आज मुझसे यह क्या कर रही है।" यह भावावस्था उन्हें तीन दिन तक रही। तीसरे दिन पंचवटी के नीचे टहलते हुए श्रीरामकृष्णदेव ने देखा, एक अदृष्टपूर्व सुन्दर गौरवर्ण देवमानव स्थिर दृष्टि से उन्हें अवलोकन करते हुए उनकी ओर बढ़े और उनमें विलीन हो गये तथा उन्हें यह ध्वनित होता रहा, ईसामसीह! दुःख यातनाओं से जीवों का उद्धार करने के निमित्त जिन्होंने अपने हृदय का रुधिरदान तथा

मानवों का घोर अत्याचार सहन किया था, वही ईश्वर से अभिन्न परमयोगी तथा महान प्रेमी ईसामसीह हैं।"

नाटककार गिरीशचन्द्र घोष के लिखे भगवान बुद्ध के लीलामय जीवन को सुनकर योगदृष्टि युक्त भावावस्था में श्रीरामकृष्णदेव ने कहा था, "श्री बुद्धदेव निश्चय ही ईश्वरावतार थे, उनके प्रवर्तित मत तथा वैदिक ज्ञान मार्ग में कोई भेद नहीं है।" स्वामी सारदानन्द 'लीलाप्रसंग' में लिखते हैं "श्रीरामकृष्णदेव का विश्वास था कि पुरी धाम में अवस्थित श्री जगन्नाथ-सुभद्रा-बलभद्र रूपी त्रिरत्न-मूर्ति में श्री भगवान के बुद्धावतार का प्रकाश अभी भी विद्यमान है तथा श्री जगन्नाथ के प्रसाद से भेद बुद्धि विलुप्त होकर मानव जातिबोध रहित होता है।"

श्रीरामकृष्णदेव धर्मसमन्वय का भाव भक्तों को बड़ी सरलता से समझाते थे, "सब मार्गों से उन्हें प्राप्त किया जा सकता है। सभी धर्म सत्य हैं। छत पर चढ़ने से मतलब है सो तुम पक्की सीढ़ी से भी चढ़ सकते हो, लकड़ी की सीढ़ी से भी चढ़ सकते हो, बांस की सीढ़ी से भी चढ़ सकते हो, रस्सी के सहारे भी चढ़ सकते हो और फिर एक गांठदार बांस के जरिये भी चढ़ सकते हो।" अथवा "फिर भक्तगण उन्हें ही अनेक नामों से पुकार रहे हैं। एक ही व्यक्ति को बुला रहे हैं। एक तालाब के चार घाट हैं। हिन्दू लोग एक घाट में जल पी रहे हैं और कहते हैं जल। मुसलमान लोग दूसरे घाट में पी रहे हैं, कहते हैं पानी। अंग्रेज लोग तीसरे घाट में पी रहे हैं कह रहे हैं वाटर और कुछ लोग चौथे घाट में पी रहे हैं और कहते हैं अकुआ। एक ईश्वर, उनके नाम अनेक हैं।"

आध्यात्मिक उदारता के शिरोमणि श्रीरामकृष्णदेव का चरित्र-चित्रण सुरेश मित्र ने धर्म-समन्वय तैलचित्र में एक चित्रकार के द्वारा करवाया था। हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई प्रभृति सम्प्रदायों को परिलक्षित करते हुए एक ओर विभिन्न महामानवों के भावोन्मत्त समूह को मंदिर, मस्जिद व गिरजाघर के सम्मुख चित्रित किया गया है तथा दूसरी ओर खड़े हुए श्रीरामकृष्णदेव केशव सेन से कह रहे हैं "विभिन्न मतालम्बी, विभिन्न मार्गों द्वारा एक ही स्थान पर पहुँचते हैं।" इस तैलचित्र को देखते हुए श्रीरामकृष्णदेव ने प्रसन्न के पिता से कहा था, "इस कलाकृति में सभी कुछ तो है! आधुनिक युग का आदर्श यही है।"

श्रीरामकृष्णदेव के प्रबुद्ध प्रचारक स्वामी विवेकानन्द ने सर्वधर्म समन्वय के इसी आदर्श मत का प्रसार एवं प्रचार करते हुए २८ जनवरी १९०० ई० को कैलीफोर्निया के पैसाडोना नगर के सार्वभौमिक धर्ममन्दिर में 'विश्वधर्म की उपलब्धि का मार्ग' विषय के भाषण का समापन इन शब्दों से किया था, "अतएव ग्रहण ही हमारा मूलमन्त्र होना चाहिए, वर्जन नहीं। केवल परधर्म-सहिष्णुता नहीं, क्योंकि तथाकथित सहिष्णुता प्रायः ईशनिन्दा होती है इसलिए मैं उस पर विश्वास नहीं करता। मैं ग्रहण में विश्वास करता हूँ। मैं क्यों परधर्म सहिष्णु होने लगा? परधर्म सहिष्णुता कहने से मैं यह समझता हूँ कि कोई धर्म अन्याय कर रहा है और मैं कृपापूर्वक उसे जीने की अनुमति दे रहा हूँ। तुम जैसा कोई आदमी किसी को कृपापूर्वक जीवित रख सकता है यह समझना क्या भगवान के प्रति निन्दा नहीं है? अतीत के धर्म सम्प्रदायों का सत्य कहकर ग्रहण करके मैं उन सब के साथ ही आराधना करूंगा। प्रत्येक सम्प्रदाय जिस भाव से ईश्वर की आराधना करता है, मैं उनमें से प्रत्येक के साथ ही ठीक उसी भाव से आराधना करूंगा। मैं मुसलमानों के साथ मस्जिद में

जाऊँगा, ईसाइयों के साथ गिरजा में जाकर क्रूसित ईसा के सामने घुटने टेकूँगा, बौद्धों के मन्दिर में प्रवेश कर बुद्ध और संघ की शरण लूँगा और अरण्य में जाकर हिन्दुओं के पास बैठ ध्यान में निमग्न होकर उनकी भांति सबके हृदय को उद्भासित करने वाली ज्योति के दर्शन करने में सचेष्ट होऊंगा।"

स्वामी सारदानन्द ने सर्व-धर्म समन्वयवाद के प्रवर्त्तक श्रीरामकृष्णदेव की प्रत्यक्षानुभूतियों से निष्कर्ष निकाल कर यह प्रकाशित किया है, "अत: यह स्पष्ट है कि पृथ्वी के धार्मिक विरोध तथा धर्मग्लान को दूर करने के निमित्त ही वर्त्तमान समय में युगावतार श्रीरामकृष्णदेव का आगमन हुआ है, क्योंकि इससे पूर्व साधना के द्वारा अपने जीवन में इस बात की पूर्णतया उपलब्धि करके किसी भी ईश्वरावतार ने विश्व को इस तरह की शिक्षा नहीं दी है"

मेरी आशा, मेरा विश्वास नवीन पीढ़ी के नवयुवकों पर है। उन्हीं में से मैं अपने कार्यकर्ताओं का संग्रह करूँगा। वे सिंह विक्रम-से देश की यथार्थ उन्नति सम्बन्धी सारी समस्या का समाधान करेंगे। वर्तमान काल में अनुष्ठेय आदर्श को मैंने एक निर्दिष्ट रूप में व्यक्त कर दिया है और उसको कार्यान्वित करने के लिए मैंने अपना जीवन समर्पित कर दिया है।…वे एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र का विस्तार करेंगे—और इस प्रकार हम धीरे-धीरे समग्र भारत में फैल जायेंगे।

—स्वामी विवेकानन्द

देवलोक

स्वामी अपूर्वानन्द
अनुवाद—स्वामी ज्ञानातीतानन्द
ब्रह्मचारी मुकेश

—: पूर्वाभास :—

संसार में जब धर्म की आत्यधिक ग्लानि होती है तभी श्रीभगवान की विशेष शक्ति अवताररूप से धराधाम में अवतीर्ण होकर धर्म ग्लानि दूर करती है। शास्त्र में इन्हीं महामानवों को पूर्णावतार, अंशावतार और कलावतार रूप से कहा गया है। वे लोग मुमुक्षुओं को, ईश्वर-प्राप्ति का सरलपथ दिखा कर धर्म में प्रवर्तित करते हैं। अवतार पुरुष साधारणतया अकेले नहीं आते हैं। अपनी नरलीला परिपूर्ण करने के लिए वे अपने साथ विभिन्न लोकों के प्रकाशयुक्त दिव्यज्ञान सम्पन्न नित्यसिद्ध मुक्तात्माओं को लेकर युग-युग में अवतीर्ण होते हैं। इन लोगों को शास्त्रीयभाषा में कहा जाता है—अवतार के शरीरांग, अंश, कला इत्यादि। ये ही पार्षद उनके नित्य सहचर हैं, युगलीला में सहायक के रूप में वे लोग अवतार के साथ आते हैं एवं उनकी दिव्यलीला का निर्दिष्ट अंश ग्रहण करके अपने आगमन का उद्देश्य सिद्ध करके स्वधाम में चले जाते हैं। उनके स्वरूप के सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने कहा है, वे सभी मुक्तात्मा नित्यसिद्ध हैं एकमात्र जीवजगत की कल्याण—कामना लिए हुए वे लोग लोकों में रहते हैं एवं जब आवश्यकता होती है तो परमेश्वर की विशेष इच्छा से अवतार के साथ आकर जगत का कल्याण साधित करते हैं। उनलोगों का साधन भजन युगादर्श स्थापित करने के लिए जगत के कल्याण हेतु होता है।

श्रीरामकृष्ण की लीला में सम्मिलित अन्तरंग पार्षदों के सम्बन्ध में श्री श्री माताठाकुरानी ने सरलभाषा में कहा है: ठाकुर कहते थे, वे लोग कोई शरीर से, कोई रोमकूप से कोई हाथ पैर से निकले हैं। वे सभी निकट के साथी हैं। जैसे राजा कहीं जाता है, तो साथ में सभी लोग भी साथ में वहाँ जाते हैं। पुराण की भाषा में—शिव के जटाजुट से वीरभद्र की उत्पत्ति इत्यादि। ठाकुर अपने पार्षदों के सम्बन्ध में इशारे से कहते हैं 'बाउलों का दल अचानक आया, नाचा, गाना गाया; और अचानक चला गया! आया—गया, किसी ने पहचाना नहीं।' और कहा है: कलमी का दल खिंच सिंच कर आता है। यहाँ सब आ रहे हैं—जैसे कलमी का दल, एक जगह खींचने से सब आ जाता है। परस्पर सभी आत्मीय—भाई भाई।'

पहले आए हुए किसी-किसी अवतार पुरुषों के पार्षद समावेश के सम्बन्ध में कुछ-कुछ जाना जाता है, किन्तु श्रीरामकृष्ण-अवतार में आये हुए पार्षदगण कौन कौन से देव-देवी या पहले आये हुए कौन से अवतार पुरुष के साथी थे इसका विश्लेषण करके ठाकुर ने अपने पार्षदों में किसी को ईश्वर कोटि नित्य सिद्ध या अखण्ड के ऋषि किसी को विभिन्न देव-देवियों के अंश से उत्पन्न हुए कहते थे।

श्रीरामकृष्ण ने अपने पार्षदों के संबंध में और भी कहा है: 'नरेन्द्र, भवनाथ, राखाल—ये सब नित्य सिद्ध ईश्वरकोटि हैं। इन लोगों की शिक्षा—

अर्थात् इन लोगों का साधन भजन—अपनी मुक्ति के लिए नहीं परन्तु जगत हित के लिए है।

ठाकुर नरेन्द्र को 'सप्त ऋषि मंडल' से लाये थे। इसलिए उनको सप्तऋषि मंडल का ऋषि कहा है। राखाल वृज के राखाल। बाबूराम का राधिका के अंश से जन्म है। निरंजन का जन्म राम के अंश से। योगिन को कहते, 'कृष्ण सखा अर्जुन का अवतार'। अर्जुन की जैसी आंख। शरत और शशी ऋषि कृष्ण (यीशु कृष्ण) के दल के थे'। हरिप्रसन्न को कहते : 'जाम्ववान के अवतार'। तारक के संबंध में ठाकुर की उक्ति : '(उसका) उच्च शक्ति का घर' है। जहां से नाम रूप होते हैं',।

इस प्रकार ठाकुर के कथन से जाना जाता है कि उनके पार्षद सभी नित्य सिद्ध, मुक्तात्मा तथा देवअंश संभून थे। पार्षदों में किसी किसी ने वातचीत में अपने स्वरूप के संबंध में कहा है। तारकनाथ ने १९२८ के अंतिम भाग में किसी प्रसंग में कहा था : 'हम लोग अवतार का साथ छोड़ कर बार बार नहीं आते'।

नर लीला में अवतार के साथ जो आते हैं, उनके संबंध में स्वामी विवेकानन्द ने कहा था 'ठाकुर कहते थे—अवतार के साथ में कल्पान्तर के सिद्ध ऋषि देह धारण करके संसार में आगमन करते हैं।" (शिष्य को लक्ष्य करते हैं) 'यह जान रखना—अवतार के पार्षद एक-मात्र वे ही हो सकते हैं जो दूसरों के लिए सर्व त्यागी, भोग सुख को काक विष्ठा की तरह त्याग करके "जग-द्धिताय" "जीवहिताय" जीवन यापन करते हैं। भगवान यीशु ख्रीस्ट ने कहा है : 'Those who have seen the son hath seen the father.'। महापुरुष महा-राज ने भी अनेक बार यह बात कही है।

अवतार का जिस उद्देश्य से नर देह धारण, होता है। उनके पार्षदों का उसी कार्य में सहायता के लिए आना होता है। जगत का कल्याण, धर्मरक्षा, मनुष्य को अंधकार के पथ से प्रकाश का रास्ता दिखा कर सत्य का पथ दिखाने के लिए ही उन लोगों का नर रूप में अवतरण होता है। वे लोग भी प्रत्येक अवतार की तरह चेतन विग्रह होते हैं। क्या पुरूष, क्या नारी सभी पार्षद दिव्य, अचिन्तनीय, अलौकिक अभूतपूर्व लीला का अभिनय कर गये हैं।

आचार्य शंकर ने कहा है : 'दुर्लभम् त्रयमेवैतद् देवानुग्रह हेतुकम् मनुष्यत्वम्, मुमुक्षत्वम् महापुरुषः संश्रयः"। मनुष्य जन्म, मुक्ति के लिए तीव्र आकांक्षा, महापुरुष का अर्थात् ब्रह्मज्ञानी गुरू का आश्रय लाभ—देव कृपा से ही मनुष्य इन तीन दुर्लभ संपत्तियों का अधि-कारी हो सकता है : ये ही तीन वस्तु वास्तव में दुर्लभ, किन्तु इनसे भी अनेक कई गुना दुर्लभ होता है अवतार पार्षदों का दर्शन और उनके संगरूप कृपा का लाभ। कारण पार्षद लोग अवतार का साथ छोड़कर इस संसार में प्रायः नहीं आते। उन लोगों का आगमन अनेक शताब्दियों के बाद अवतार के साथ होता है।

साधारण मनुष्य अपना अपना कर्मफल भोग करने के लिए देह धारण करता है। मनुष्य साधना के द्वारा देव कृपा से ईश्वर का दर्शन कर सकता है, कैवल्य मुक्ति लाभ कर सकता है, किन्तु साधना के द्वारा अवतार का पार्षद नहीं हो सकता है। पार्षद नित्य सिद्ध होते हैं अवतारों की तरह, पार्षदों का जीवन भी उनके बाद बहुत से मनुष्यों को संशय मुक्त पथ निर्देशन में सहायक होता है। कारण जीवन दर्पण में नित्य साथी हृदय देवता अवतार पुरुष के स्वच्छ प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता है। इसलिये इन पार्षदों के पास अंतरंग भाव से जिनको आने का दुर्लभ सुयोग मिलता है वे लोग भगवान के अवतार लीला के प्रत्यक्ष दर्शी न होने पर भी, पार्षदों के जीवन दर्पण में उसी अलौकिक अवतार रहस्य और लीला माधुरी का थोड़ा आस्वादन पाकर कृतार्थ होते हैं।

यह स्मृति चिर नवीन, आशा-उद्दीपन के लिए भक्त हृदय को प्रेरणा देती है, तथा नवीन संजीवनी मन्त्र

'महापुरुषजी कौन थे यह बात उन्होंने पटना में 1928 ईस्वी में किसी भक्त के प्रश्न के उत्तर में कहा था : 'यह शरीर क्या बार बार आता है ? ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व उन्हीं भगवान बुद्ध के साथ आया था।

से उद्दीपित करती है, विश्वास, भक्ति-वैराग्य के अपूर्व आलोक से भक्त के मन:प्राण को उद्भासित करती है। उसी अवर्णनीय अलौकिक जीवनों से बाद के युगों के मनुष्य अपने जीवन को आनंदित करते हैं, दुख: शोक भूल कर परमानन्द प्राप्ति का पथ पाते हैं। उन लोगों के कंठ से दिव्य आह्वान सुनते हैं, उनकी आंख से भगवद्लीला का अपूर्व अभिनय देखते हैं, उनके आशीर्वाद से उन्हीं साक्षात जगन्माता जगदम्बा की कृपा प्राप्त करते हैं।

मैं उच्च कोटि का साधक या कहानी लेखक नहीं हूं। श्रीरामकृष्ण और उनके पार्षदों के संबंध में जनसाधारण की क्या धारणा है उसका भी सम्यक ज्ञान नहीं है। स्वामी विवेकानन्द ने अपने महान गुरुदेव युगावतार श्रीरामकृष्णदेव को 'अवतार वरिष्ठ' कहा है। श्रीरामकृष्ण के परिचय के संबंध में मेरे लिए यही यथेष्ठ है। और यदि श्रीरामकृष्णदेव लोक कल्याण के लिए अनेक शताब्दियों के बाद श्रेष्ठ अवतार रूप से जगत में आविर्भूत हुए थे' तो उनके देवकार्य साधन में सहायक पार्षद रूप से जो लोग आये थे वे भी साधारण मनुष्य नहीं हो सकते, यह मेरा विश्वास है। हम लोग बहुत भाग्यवान हैं, जो ऐसे देवांश संम्भूत पुरुषोत्तम लोगों के आविर्भव के समय में जन्म ग्रहण किया है एवम् वे लोग जिस महान व्रत की प्रतिष्ठा के लिए आये थे उसमें भागीदार होने का दुर्लभ सुयोग हमलोगों को प्राप्त हुआ है। मेरा यह महान सौभाग्य और बहुत-बहुत जन्मों के पुण्यों के फल से इस युग के जो तारनकारन 'परब्रह्म के लीला विग्रह उन्हीं भगवान श्री रामकृष्णदेव की परमा-प्रकाश मूर्ति शक्तिरूपिणी जगन्माता 'श्री सारदा देवी' और उनके कई लीला संगियों के साथ घनिष्ट साहचर्य और लम्बे समय तक उनके साथ रहने का सुयोग जीवन के प्रारंभ में ही पा कर कृत-कृत्य हुआ हूं।

इस जीवन के अंतिम भाग में, नाना प्रकार की व्याधियों के भार से पीड़ित शरीर ले कर उन लोगों की स्मृति सुधा के सरोवर के किनारे बैठ कर भूल जाता हूं शरीर, रोग यातना और उम्र की बात। मालूम पड़ता है वह सब तो कुछ दिन पहले की घटना थी, और याद आता है भागवत का पुण्य श्लोक 'नदी के जल में चांद का प्रतिबिम्ब देख कर खेलते हुए मछलियों के झुंड ने सोचा था—कि यह तो ऐसा लगता है कि यह उनके खेलने का नया साथी है—उसका बड़प्पन उसकी विशालता उन लोगों ने जानी नहीं। चन्द्र के अस्त होने पर मछलियों ने जाना कि उन्होंने जो खो दिया है वह उनके जगत का नहीं था'। उसी प्रकार जब हम लोग पार्षदों के साथ में थे नित्य दिन की छोटी और बड़ी घटनाओं के बीच में अनेक क्षेत्र में उनकी अप्राकृत महिमा को समझ नहीं पाए, और समझ नहीं पाए उनकी लोकोत्तर विराट मूर्ति जो आंखों को चकाचौंध करने वाली थी। कभी-कभी उन लोगों ने हमारे कल्याण के लिए अपना स्वरूप प्रकाशित किया जिससे हम कुछ समझ पाये। आज जीवन संध्या के समय में उसी स्मृति को याद करने पर विस्मय और आनन्द से अवाक् हो जाता हूं—कहां और किसके साथ था! उनकी पुण्य स्मृति से मन प्राण आनन्द से भरपूर हो जाता है इन लोगों की स्मृति कथा लिखने की मेरी योग्यता नहीं है। स्वयम् ठाकुर जिस भाषा में इन लोगों में से एक एक को चिह्नित कर गये हैं वह बात याद आने से मन में संकोच होता है कि मैं किस प्रकार इनको चित्रित करूंगा। मेरा स्मृति चित्रण यदि इन लोगों की उच्च-स्तर की महिमा को ठीक न रख सके तो? कारण हमारे पास तो वह दृष्टि नहीं है। इसीलिये ठाकुर के चरणों में यह प्रार्थना करता हूं जिससे वे मेरे हृदय में आरुढ़ हो कर पार्षदों की स्मृति का चित्रण करायें। मैंने केवल जिस प्रकार उन लोगों को देखा था जैसा पाया था, वैसा ही प्रकाशित करने की चेष्टा करूंगा।

मैंने प्रथम जीवन में ही श्री श्री माँ का दर्शन पाया एवम् ठाकुर के आठ पार्षदों के खूब घनिष्ठ भाव से साथ में रह कर नाना प्रकार के विचित्र परिवेश में, अत्यंत अंतरग भाव से दीर्घ समय तक दर्शन और सेवा करने

का दुर्लभ सुयोग प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त और छह, सात गृहस्थ पार्षद तथा पांच-छह स्त्री भक्तों को भी विभिन्न परिवेश में बेलुड़ मठ में और अन्यत्र खूब निकट से देखने का सुयोग पाकर मैं अपने को धन्य मानता हूं। विभिन्न पार्षद सर्वभाव में ठाकुर के विभिन्न भावों के मूर्त विग्रह थे। श्रीरामकृष्ण जैसे 'वेद' हैं और उनके पार्षद जैसे उसके 'भाष्य'। ठाकुर ने अपने त्यागी पार्षदों से एक एक के बीच में अपने एक एक भाव का विकास किया था, और उसी प्रकार उन लोगों के संपर्क में नाना परिचय भी उन्होंने दिया था। आज जीवन संध्या में वही सब बातें याद करके संपूर्ण शरीर आनन्द से सिहर उठता है। विस्मित होकर सोचता हूं कि किन लोगों के साथ मैं था!

स्वामी अपूर्वानन्द
८/६/९०
काशी, श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम

विवेक शिखा—स्थायी कोष के दाता

११.	श्री रामलायक सिंह	—	सम्होता (छपरा)	२५ रुपये
१२.	डा० एस पी० भार्गव	—	अजमेर	१०० रुपये
१३.	श्री राम छबिला सिंह	—	मुजफ्फरपुर	२५ रुपये
१४.	श्री निखिल शिवहरे	—	दमोह (म० प्र०)	१५१ रुपये
१५.	श्रीमती उषारानी कर्ण	—	सुरसंड, (सीतामढ़ी)	१०० रुपये
१६.	श्री पी० सी० सरकार	—	नरेन्द्रपुर (प० बं०)	१०० रुपये
१७.	श्रीमती मीरा मित्रा	—	इलाहाबाद	२०१ रुपये
१८.	श्री गोपाल शं० तायवाडे	—	अमरावती (महाराष्ट्र)	१०० रुपये
१९.	श्री महादेव शि० गुंडावार	—	भद्रावती (महाराष्ट्र)	५० रुपये
२०.	श्री राजीव कुमार राजू	—	सैदपुर, पटना-४	३१ रुपये
२१.	श्री राज सिंह	—	गाजियाबाद (उ० प्र०)	५० रुपये
२२.	श्री चन्द्र मोहन	—	टुण्डला (उ० प्र०)	६८५ रुपये
२३.	श्री के० अनूप	—	अरुणाचल प्रदेश	२० रुपये
२४.	श्री शतदल साधु खान	—	सोनारपुर(पश्चिम बंगाल)	१०० रुपये
२५.	श्री ए० जी० डगाँवकर	—	यवतमाल	५१ रुपये
२६.	श्रीमती उषा गुप्ता	—	रायपुर (म० प्र०)	२०० रुपये
२७.	श्री पी० राम	—	पटना (बिहार)	२५१ रुपये
२८.	टी० रघुवीर राव	—	उडुपी (कर्नाटक)	२५ रुपये

निवेदन—१. स्थायी कोष के लिए दान सम्पादकीय पते पर भेजने की कृपा करें।
२. चेक या ड्राफ्ट "विवेक शिखा" के नाम से भेजें।

स्वामी विवेकानन्द की भारत परिक्रमा एवं धर्म महासम्मेलन की तैयारी

स्वामी विमलात्मानन्द
अनुवादक— ब्रह्मचारी गौरी शंकर
बेलुड़मठ

(भाग—२)

स्वामी विवेकानन्द की पाश्चात्य यात्रा के पीछे जिस दैविक शक्ति ने कार्य किया था, उससे वे अवगत थे। भारत परिक्रमा-काल में उन्होंने विभिन्न स्थानों पर विभिन्न कालों में अनेक लोगों के सामने इसे व्यक्त किया था। परवर्ती काल में स्वामीजी ने भगिनी-निवेदिता को बतलाया था : "मुझे काम करना पड़ेगा, यह धारणा इस समय मुझे जितना अभिभूत कर रही है उतना सारे जीवन में कभी भी नहीं किया। मन में होता था कि इस धारणा ने हमें एक गुहा से दूसरी गुहा में जीवन व्यतीत करने से विरक्त कर नीचे समतल प्रदेशों में विचरण करने के लिए फेंक दिया।[16]

मेरठ में सन् १८९० के नवम्बर महीने में संगी गुरुभाइयों से स्वामीजी ने कहा था, "मेरा जीवन-व्रत स्थिर हो गया है।[17] पोरबन्दर में (नवम्बर १८९१) उनका साक्षात्कार स्वामी त्रिगुणातीतानन्द से हुआ, तो उन्होंने कहा, "ठाकुर (श्रीरामकृष्णदेव) जो कहते थे, कि उसके भीतर सभी शक्ति है, इच्छा होते ही यह संसार को मथ सकता है, यह बात अब मैं कुछ समझ पाया हूं।[18] महाबलेश्वर (मई, १८९२) लिमडी के ठाकुर साहब यशवन्त सिंह के सामने स्वामीजी ने स्वीकार किया था," हमें एक व्रत का निर्वाह करना होगा।"[19] खण्डवा में (अगस्त १८९२) संस्कृतज्ञ वकील प्यारीलाल गांगुली ने स्वामीजी की प्रतिभा का परिचय पाकर कहा था, "स्वामीजी को देखने से ही मन में होता था कि ये कालान्तर में एक विश्वव्यापी शक्ति होंगे।" जब इस तथ्य से स्वामीजी को अवगत कराया गया तो उनके मुखमण्डल पर एक दिव्य ज्योति फैल गयी और उन्होंने विनयपूर्वक कहा, "मैं स्वयं इसके बारे में कुछ भी नहीं जानता हूँ, फिर भी मेरे गुरुदेव ठीक यही बात कहते थे, किन्तु और अधिक जोरदार भाषा में।[20] बम्बई में स्वामीजी ने स्वामी अभेदानन्द से कहा था, "काली, मेरे अन्दर इतनी शक्ति संग्रही हुई है कि भय होता है कि यह बाद में फट जाएगी।[21]. स्वामीजी की इसी शक्ति, इसी व्रत ने उन्हें एक आर्ष दृष्टि प्रदान की थी, उनके अन्दर जाग्रत किया था भारत परिचय का मर्मबोध तथा उनकी हृदयगुहा को झंकृत किया था भारतीय आत्मा की मर्मवाणी की ध्वनि से।

(२)

१६ अगस्त १८८६ में श्रीरामकृष्णदेव की महासमाधि के बाद १८ अक्टूबर को उत्तर कलकत्ता

में वराह नगर मठ की स्थापना हुई थी। उसके कुछ समय बाद ही स्वामीजी का परिक्रमा-पर्व आरम्भ हुआ। परन्तु यह प्रधानतः तीर्थगमन एवं कुछ समय के लिए निर्जन-वास का पर्व था। सन् १८९० ई० में जुलाई माह से स्वामी अखंडानन्द के साथ स्वामी जी अपनी दीर्घ भारत परिक्रमा के लिए निकले थे। परिक्रमा के समय बीच-बीच में अन्यान्य गुरु भाइयों ने भी उनका साथ दिया था।

परन्तु कई वर्षों बाद स्वामीजी अकेला ही निकल पड़े—निःसंग परिक्रमा के लिए। वास्तव में यही परिक्रमा सभी अर्थों में एक 'ऐतिहासिक परिक्रमा' थी। निःसंदेह १८८८ से मई १८९३ तक स्वामीजी की, सुदीर्घ, करीब ६ वर्षों की, परिक्रमा ऐतिहासिक थी। स्वामीजी की इसी अभिज्ञता ने विश्व के समक्ष नवजात रामकृष्ण आंदोलन को प्रतिष्ठापित किया था। इसी परिक्रमा ने जिस प्रकार श्रीरामकृष्ण के भाव प्रचार में सहायता की थी, उसी प्रकार भारत के सामाजिक एवं ऐतिहासिक क्षेत्र के लिए नये युग की उद्‌घोषणा की थी। इसके साथ ही जगत के आध्यात्मिक इतिहास में एक नव दिशान्तर का भी उन्मोचन किया था। इन तथ्यों की पुष्टि ऐतिहासिक प्रमाणों एवं मनीषियों के गंभीर विश्लेषण तथा तात्विक मूल्यांकन के आधार पर होती है। इतिहासकार सरदार के० एन० पाणिक्कर ने लिखा है : "समग्र भारतवर्ष का भ्रमण कर स्वामीजी ने केवल हिन्दुओं की व्यावहारिक बोध शक्ति का ही जागरण नहीं किया वरन् उन्होंने नव हिन्दू संस्कार-साधन के लिए सार्वजनीन वेदांत के तत्वों की शिक्षा भी दी थी।"[22] प्रसंगतः यह उल्लेखनीय है कि ऐतिहासिक पाणिक्कर ने स्वामी विवेकानन्द को 'नव शंकराचार्य' के रूप में देखा है। इतिहास के प्रवीण अध्यापक अमूल्यभूषण सेन ने मन्तव्य दिया है : "वे (स्वामीजी) अभिनव भारत के पथिक थे। असामान्य व्यथित प्राण लेकर उन्होंने परिव्राजक के वेश में हिमालय से कन्याकुमारी पर्यन्त परिक्रमा की थी। शोषित दरिद्र एवं पीड़ित देशवासियों की मर्म वेदना का उन्होंने हृदय से अनुभव किया था। इसी प्राणमय अभिज्ञता ने स्वामीजी को निरन्तर एक मर्मी देश प्रेमी एवं अभिनव भारत के तत्वविद् के रूप में उभारा था। ...भारतीय महामानव के सागर-तीर पर उत्तीर्ण होकर ध्यान नेत्र के उन्मीलन द्वारा उन्होंने उद्‌घाटन किया कि मातृभूमि के अंक में प्रचुरता से सुसज्जित रत्नराशि एवं ऐतिहासिक चेतना को यथार्थ के पत्थर पर जाँच कर उन्होंने उन सभी को वर्तमान भारत के लिए अवश्य ग्राह्य रूप में रेखांकित किया। प्रख्यात ऐतिहासिक रमेशचन्द्र मजूमदार ने कहा है, 'यदि स्वामीजी हिमालय में निर्जन जीवन यापन करते, जिसे उन्होंने गभीरता से चाहा भी था एवं वे सहज ही कर भी सकते थे, किन्तु उससे भारत के परिव्राजक संन्यासी की संख्या में मात्र वृद्धि होती, इससे विवेकानन्द को नहीं पाया जा सकता था।' उन्होंने पुनः लिखा है : "स्वामीजी द्वारा समग्र भारत-परिक्रमा काल में अद्वैत ज्ञान एवं अभिज्ञता उनके जीवन का एक सन्धिक्षण था। उन्होंने भारत की दरिद्रता, अज्ञता, मर्म पीड़ा एवं दुर्दशा का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त किया था, इन सभी ने उनकी हृदयतंत्री का गंभीरभाव से स्पर्श किया था। उन्होंने अनुभव किया था कि किस तरह पाश्चात्य जाति के गौरव एवं माहात्म्य से मुग्ध तथाकथित उच्च व शिक्षित श्रेणी के लोग स्वयं के प्राचीन सांस्कृतिक गौरव एवं माहात्म्य से पूर्ण रूपेण अनभिज्ञ थे। शताब्दियों तक विदेशी शासन के अधीन होने के कारण वे किस प्रकार देह-मन का शौर्य गंवाकर निष्क्रियता एवं दासत्व से निमज्जित थे। उनलोगों में न तो वर्तमान अवनति के प्रति सचेतनता थी, न भविष्य

के सम्बन्ध में कोई आशा··· उस समय स्वामीजी ने यह गुरुत्वपूर्ण व्रत ग्रहण किया था कि शाश्वत आनन्द की निर्विकल्प समाधि या निज मुक्ति की आकांक्षा का वे त्याग करेंगे एवं मातृभूमि के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग करेंगे।[24]

भगिनी निवेदिता ने लिखा है···गुरु रामकृष्ण परमहंस में विवेकानन्द ने जीवन रहस्य की कुंजी उपलब्ध की थी।··· इसके बाद भी उन्हें हिमालय से कन्याकुमारी पर्यन्त भारतवर्ष में सर्वत्र परिभ्रमण कर सभी के निकट जाकर स्वयं को शिक्षित करना पड़ा था एवं दूसरों को भी शिक्षित करना पड़ा था। उन्हें सभी के साथ रहना पड़ा था एवं भारत-माता का जो रूप था, जो रूप हुआ है, उसे देखना पड़ा था—इसी भाव से विशाल समग्रता से सर्वग्राह्य उन्हें उपलब्धि करनी पड़ी थी।[25] 'रोमांरोलाँ ने लिखा है।—वे अविराम एकाकी भ्रमण करने लगे। उनके साथ केवल भगवान् थे।·· जीवन का महाग्रन्थ, वर्तमान की वेदना सकरुण उनके सम्मुख रख दी।···उन्होंने सुना किस तरह भारत तथा विश्व के जन साधारण सहायता के लिए कातर भाव से प्रार्थना कर रहे हैं। उन्होंने समझा उनके विचार में नव इडिपस का कर्त्तव्य क्या था—ईडिपस का कार्य था स्फिन्स के हिंसक मुख का उद्धार होने से थिविस की रक्षा करना, और नहीं तो थिविस के साथ मृत्यु वरण करना। ग्रन्थालय में सभी ग्रन्थों का पाठ कर भी यह शिक्षा उन्होंने नहीं पायी।···भ्रमण के वर्ष शिक्षालाभ के वर्ष हो गये (गेटे की उक्ति) यह कैसी अपूर्व शिक्षा! उन्होंने केवल दीन-दरिद्र के ही बीच रहकर उनका जीवन अंश ग्रहण नहीं किया, बल्कि सभी प्रकार के मनुष्यों के साथ समान अवस्थाओं में रहकर सभी के जीवन का दर्शन किया था। आज वे किसी घृणित लांछित भिक्षुक, किसी अस्पृश्य के आश्रय

हैं तो कल महामान्य अतिथि महाराजा के महामंत्री के साथ समान भाव से बैठकर आलाप कर रहे हैं। आज वे पीड़ितों के बन्धु उनके रक्षक हैं, तो कल धनी लोगों के विलास के साथ रहकर उनके सुप्त हृदय में जनसेवा की चेतना का जागरण कर रहे हैं। विद्वान लोगों की विद्या के साथ उनका जितना घनिष्ठ परिचय था, जन-साधारण के जीवन नियंत्रण करने वाले ग्राम या नगर की अर्थ नीति के सम्बन्ध में भी उन्हें उतना पूर्ण ज्ञान था। वे न केवल स्वयं सीख रहे थे वरन दूसरों को सिखा भी रहे थे। साथ ही स्वयं को धीरे-धीरे समग्र भारत के विवेक, एकता एवं नियति के लिए तैयार कर रहे थे। ये सब उनके अन्दर जीवन्त हो उठे थे एवं विश्व ने उन सभी को विवेकानन्द के रूप में प्रत्यक्ष किया था।[26]

(३)

संन्यासी का जीवन चिरन्तन तीर्थ-रस का आस्वादन करना, निर्जन तपस्या, निःसंग एवं निःसम्बल परिव्राजक जीवन ग्रहण करना होता है। स्वामीजी ने चाहा था—उनके गुरुभाई वराहनगर मठ में संघबद्ध भाव से रहें, एवं श्रीरामकृष्ण के भाव में अपने जीवन का गठन करें। किन्तु संन्यासी की चिरन्तन धारा उनमें से किसी किसी को मठ में आबद्ध नहीं रख सकी। एक मात्र अपवाद थे स्वामी रामकृष्णानन्द। स्वामीजी ने भी दूर का आह्वान अपने अन्दर सुना था। बीच-बीच में उनका हृदय-कन्दर आलोकित हो जाता था। मठ के स्थायित्व के लिए प्रथमतः अपने हृदय के आवेग का दमन करते हुए भी परिव्राजक जीवन की पुकार की उपेक्षा वे नहीं कर सके। गुरु श्रीरामकृष्ण देव की शिक्षा के आध्यात्मिक राज्य में सर्वोच्च अनुभूति उन्होंने प्राप्त की थी एवं सनातन शास्त्रादि में इसका समर्थन भी पाया था परन्तु वास्तविक जीवन की सारी अभिज्ञताओं

का परिचय उन्होंने अपने नेत्रों से देखकर प्राप्त किया था तथा इसका अनुभव भी किया था। जो ईश्वर या ब्रह्म जगदातीत रूप में प्रतिभात होते हैं उन्हें निखिल चराचर के आधार एवं सभी जीवों के रूप में स्वामीजी ने अनुभव करना चाहा था। इसी कारण श्रीरामकृष्ण ने उन्हें निर्विकल्प समाधि में मग्न होने नहीं दिया। श्रीरामकृष्ण के समीप उन्होंने सुना था—"आँख बन्द करने पर वे हैं और आँख खोलने पर क्या नहीं हैं?" अतः बाद में स्वामीजी ने भारत परिक्रमा शुरू की। अपनी अनुभूति, गुरु एवं शास्त्रों के वचनों को प्रमाणित करने के लिए। वस्तुतः उनकी यह परिक्रमा देव निर्देशित थी।[27]

वराहनगर मठ प्रतिष्ठा (१८ अक्टूबर १८८६) होने के कुछ दिनों बाद स्वामीजी इधर-उधर विभिन्न स्थानों पर कई बार गये थे। यात्रा के पूर्व प्रत्येक समय वे कहते थे; "यही अंतिम है, पुनः लौटूँगा नहीं।" परन्तु किसी भी समय इस संकल्प की रक्षा सम्भव नहीं होती थी। प्रत्येक बार मठ के आकर्षण एवं अपनी अनिच्छा के बावजूद मठ में उन्हें लौटना पड़ता था। अन्त में सन् १८९० ई० के जुलाई माह में स्वामीजी ने सिद्धान्त रूप में परिव्राजक जीवन स्वीकार किया। उन्होंने संगी के रूप में अपने साथ लिया भ्रमण विशेषज्ञ गुरु भाई स्वामी अखण्डानन्द को। यात्रा के पूर्व श्री श्री माँ के पास आशीर्वाद की भिक्षा के लिए गये। उस समय श्री माँ वेलुड़ मठ के पास घुसड़ी में एक किराये के घर में थीं। श्री माँ के समक्ष स्वामीजी ने अपने हृदय की आकांक्षा का निवेदन किया तो उन्होंने सस्नेह आशीर्वाद प्रदान किया। साथ ही अखण्डानन्दजी को उन्होंने आदेश दिया, "तुमलोगों के सर्वस्व नरेन की सभी प्रकार से रक्षा करना।"[29] यात्रा के पूर्व स्वामीजी ने अपने गुरुभाइयों से कहा : इस बार लोगों को स्पर्श मात्र से परिवर्तित करने की क्षमता प्राप्त किए बिना लौटने वाला नहीं हूँ।[30]

वराहनगर से स्वामीजी की सर्व प्रथम परिक्रमा बिहार के शिमूलतला एवं वैद्यनाथ धाम में हुई। इसके बाद वे वाराणसी एवं सारनाथ गये। वाराणसी में उनके साथ थे स्वामी प्रेमानन्द एवं श्रीरामकृष्ण के भक्त फकीर (यज्ञेश्वर चट्टोपाध्याय)। वहाँ वे एक सप्ताह श्री द्वारिका दास के आश्रम में थे। भू देव मुखोपाध्याय के साथ उनका वहाँ परिचय हुआ। प्रथम आलाप में ही वे स्वामीजी की अभिज्ञता एवं सूक्ष्म दृष्टि से अभिभूत हो गये। काशी धाम में स्वामीजी ने दो महापुरुषों का दर्शन किया—त्रैलंग स्वामी एवं स्वामी भास्करानन्द। वाराणसी में दुर्गा मंदिर में जब बन्दरों के एक दल के उपद्रव से वे त्रस्त हुए तो एक वृद्ध संन्यासी उनसे बोला : "रुको; दुष्टों का सामना करो।" बाद में उन्होंने बतलाया था—प्रकृति के सम्मुख सामना करो, अविद्या के आगे सामना करो, माया के समक्ष सामना करो। कभी भी भागो नहीं।" यह वाणी पाश्चात्य में उभरी थी वाराणसी की अभिज्ञता के फलस्वरूप।[31]

वाराणसी एवं सारनाथ भ्रमण के बाद स्वामीजी वराहनगर मठ में लौट आये। वहाँ कुछ दिन रहने के बाद पुनः पर्यटन के लिए वे निकल पड़े। इस बार भी वे प्रथम वाराणसी गये। वहाँ एक धनवान एवं संस्कृतज्ञ पंडित प्रमदा दास मित्र के साथ उनका परिचय हुआ। वही परिचय क्रमशः बन्धुत्व में परिणत हो गया। इसका प्रमाण 'पत्रावली' में मुद्रित प्रमदा बाबू को लिखे स्वामीजी के तैंतीस पत्रों में मिलता है। इसके बाद भी दो बार और स्वामीजी वाराणसी आये थे। दूसरी बार उन्होंने

प्रमदा बाबू का आतिथ्य स्वीकार किया था। पहली बार सन् १८९० ई० में अप्रैल के आरम्भ में गाजीपुर से तथा दूसरी बार वे अक्टूबर में वैद्यनाथ धाम से आये थे। शास्त्रज्ञ प्रमदा बाबू के संग स्वामीजी की विभिन्न प्रकार की वार्ता होती थी। स्वामीजी समाज के प्राणहीन आचार-विचार के विरोधी थे और प्राचीन पंथी प्रमदा बाबू थे उसके पक्ष में। स्वामीजी थे आध्यात्मिक क्षेत्र में सनातन पंथी किन्तु समाज के लिए प्रगतिशील; और प्रमदा बाबू थे ठीक इसके विपरीत। स्वामीजी अपनी क्षुरधार शाणित युक्ति के सहयोग से उपस्थापित करते थे मौलिक सामाजिक दृष्टि-कोण। यहां पर उन्होंने अपने हृदय में एक अद्भुत दैवशक्ति के अस्फुट आलोड़न का आभास पाया था। भयहीन होकर एक दिन उन्होंने जब प्रमदा बाबू से कहा—पुनः जब मैं यहां लौटूंगा तब मैं समाज के ऊपर एक बम की तरह फट पड़ूंगा और समाज श्वान की तरह मेरा अनुसरण करेगा। सन् १८८८ ई० के मध्य में वाराणसी से स्वामीजी अयोध्या, लखनऊ, आगरा, आदि पर्यटन कर अगस्त माह के आरम्भ में वृन्दावन आये। स्वामी जी जिस प्रकार लखनऊ, अयोध्या में नवाब लोगों के शिल्प-सुषमा मंडित उद्यान, प्रासाद एवं मस्जिद देखकर आनन्दित हुए थे उसी प्रकार आनन्द विभोर हुए मुगलों के अपूर्व स्थापत्य-निदर्शन आगरा के दुर्ग एवं ताजमहल को देखकर। वे भारतीय शिल्प के उत्कर्ष से परिचय पाकर आश्चर्य चकित हुए। उनके सामने उन्मोचित हुआ शिल्प एवं कल्पना के क्षेत्र में मुगल भारत वर्ष का ऐश्वर्य। इसी गौरव का रूप उन्होंने पाश्चात्य लोगों के सामने रखा था।

आगरा से वृन्दावन के रास्ते में स्वामीजी ने एक व्यक्ति को धूम्रपान करते हुए देखा। उनकी भी इच्छा हुई धूम्रपान करने की। जब उन्होंने इच्छा प्रकट की तो उस व्यक्ति ने बतलाया कि वह जाति का मेहतर है अतः एक सन्यासी महात्मा को अपना हुक्का धूम्रपान के लिए नहीं दे सकता। सहजात संस्कारवश स्वामीजी भी लौट गये। किन्तु कुछ ही दूर जाने के बाद पुनः लौट आये। स्वयं को उन्होंने धिक्कारा क्योंकि संन्यासी होने के बावजूद वे सभी कुसंस्कारों को झाड़ कर फेंक नहीं पाये थे। तब पुनः उस मेहतर के पास जाकर जबर्दस्ती तम्बाकू पीया। उसी दिन वे समझ सके थे कि जाति-पात का संस्कार किस तरह भारतवासियों के हृदय में अति प्राचीन पत्थर की तरह उसे दबा कर बैठा है। उसी के साथ उन्हें यह शिक्षा प्राप्त हुई थी कि वेदान्त तत्त्व का वास्तव में प्रयोग नहीं होने से धर्म की इतनी अवनति हुई है। बाद में इसी घटना का उल्लेख कर स्वामी जी ने कहा था: यह देखना होगा कि संन्यास लेने से क्या पूर्व के संस्कार दूर हो गये एवं मैं जाति-वर्ण के पार चला गया हूँ कि नहीं।[34] पुनः उन्होंने कहा था: "उसी दिन पुनः मुझे यह शिक्षा मिली कि, किसी से घृणा करने से काम नहीं होगा। यह भावना लानी होगी कि सभी भगवान की ही सन्तान हैं।"[35]

वृन्दावन में स्वामीजी के परिव्राजक जीवन की स्मृति का विवरण देते स्वामी तुरीयानन्द ने कहा है: "वृन्दावन में परिव्राजक अवस्था में स्वामीजी ने भोगते हुए एक बार एक कुटीर में प्रवेश किया। अति वृष्टि के कारण पथ पर चलना असम्भव था, अतः वहाँ कुछ समय अपेक्षा करनी पड़ी। मन वहाँ बहुत ही म्लान हो गया था। सम्भवतः इसी कुटीर में कभी कोई साधु वास करता था। अचानक स्वामीजी ने देखा कि दीवार पर कोयला से लिखा था:

'चाह चमारिन चुहारिन अति नीचन् की नीच।
मैं तो ब्रह्म हूँ, यदि तू ना होते बीच।
—अर्थात्—'हे वासना (चाह) तू चमारिन,

मेहतरानी (चुहारि) तू अति अधमों से भी अधम है।' तुम यदि हमारे बीच नहीं आती तो मैं ब्रह्म ही था।' इसे पढ़ कर स्वामीजी अनुप्राणित हुए थे।[२०]

वृन्दावन से हरिद्वार के रास्ते में हाथरस स्टेशन पड़ा। वहां स्वामीजी उतरे। सरकारी स्टेशन मास्टर प्रवासी बंगाली शरतचन्द्र गुप्त संन्यासी के असाधारण नेत्रों को देख कर अभिभूत हो गये। स्वामीजी वहां कई दिन ठहरे। उनके व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर कई लोग उनके दर्शन प्रार्थी हुए। उनलोगों को स्वामोजी ने अपने जीवन व्रत की बात बतायी—"देश भक्ति को जगाना होगा, भारत की आध्यात्मिकता को सचेत एवं सक्रिय करना होगा, आध्यात्मिकता से जगत की जय करनी होगो।' यही उनके लिए उनके गुरु का आदेश था। इसी व्रत का उन्हें पालन करना होगा। उसी समय शरतचन्द्र ने स्वामीजी के निकट शिष्यत्व ग्रहण किया एवं कई महीनों बाद नौकरो त्याग कर वराहनगर मठ से युक्त हो गये। बाद में उनका नाम हुआ स्वामी सदानन्द। इसके बाद शिष्य शरतचन्द्र के साथ स्वामीजी ऋषिकेश में गये। वहां ध्यानमग्न चिरषारावृत हिमालय का प्रवेश द्वार संन्यासियों के लिए तपस्या एवं निर्जनवास का स्थन है। वहां गंगा की तरंग-ध्वनि ।शांत शुभ्र हिमालय का सौन्दर्य एवं महात्माओं का पवित्र संग प्राप्त होता है।

ऋषिकेश में स्वामीजी साधन-भजन में प्राण-पण से जुट गये। उनकी इच्छा इसी अंचल में दीर्घ काल तक रहने की थी। उसके बाद केदार नाथ एवं बदरीनाथ जाएंगे। किन्तु विधि की लीला से वे मलेरिया रोग से आक्रांत हुए। शरतचंद्र के साथ वे हाथरस लौट आये। इसी बीच परिव्राजक स्वामी शिवानन्द ने उत्तराखण्ड के पथ पर, हाथरस आकर स्वामीजी से भेंट की। तीर्थयात्रा की वासना को त्याग कर गुरुभाई को त्याग कर गुरुभाई को साथ लेकर सन् १८८८ ई० के अन्तिम काल में वे वाराहनगर मठ लौट आये।

(क्रमशः)

संदर्भ सूची

१६. स्वामीजी के जे रूपे देखिए छि—भगिनी निवेदिता पृ० सं०—१६८४, पृ०—६३
१७. युगनायक विवेकानन्द—स्वामी गम्भीरानन्द, प्रथम खण्ड, पृ०—२९८
१८. वही—पृ०—३४३
१९. वही—पृ०—३५०
२०. वही—पृ०—३५१
२१. वही—पृ०—३५६
२२. द डिटरमाइनिंग पेरियडस आफ इण्डियन हिस्ट्री—के० एम० पाणिकर, भारतीय विद्या भवन, बम्बई—१९६२ पृ०—६३
२३. चिन्तानायक विवेकानन्द—स्वामी लोकेश्वरानन्द (सा०) पृ०—४४३
२४. स्वामी विवेकानन्द—ए हिस्टोरिकल व्यू—आर० सी० मजुमदार, प्रथम सं० १९६५ पृ०—३१
२५. स्वामी विवेकानन्द वाणी ओ रचना भूमिका।
२६. विवेकानन्देर जोवन व विश्ववाणी—रोमा रोला पृ०—९७-९८
२७. युगनायक विवेकानन्द प्रथम खण्ड—पृ०—२३६

२८. वही—पृ० २१७
२९. श्री माँ सारदा देवी—स्वामी गम्भीरानन्द—पृ०—२०
३०. युगनायक विवेकानन्द प्रथम खण्ड—पृ०—२७२
३१. वही पृ०-२१८-२१९
३२. वही पृ०—२८०
३३. युगनायक विवेकानन्द, प्रथम खण्ड पृ०—२८१-८२
३४. युगनायक विवेकानन्द ,, ,, पृ०—२८२-८३
३५. वही पृ०—२४२
३६. स्मृतिर आलोय स्वामीजी—स्वामीजी पूर्णात्मानन्द, १९९०, पृ०-३
३७. युगनायक विवेकानन्द—प्रथम खण्ड—३४६

ज्ञान प्राप्त होने पर सम्प्रदायिकता नहीं रह जाती; इसका अर्थ यह नहीं कि ज्ञानी किसी सम्प्रदाय से घृणा करते हैं। नहीं, वे सभी सम्प्रदायों के अतीत ब्रह्म को जानकर सभी सम्प्रदायों से परे की अवस्था में पहुँच जाते हैं और सर्वदा उसमें प्रतिष्ठित रहते हैं। वे सम्प्रदायों को नष्ट-भ्रष्ट करके धूल में मिलाने की चेष्टा नहीं करते; किन्तु सभी सम्प्रदाय उन्नति कर सकें—इसमें वे सहायता करते हैं। सब नदियाँ जैसे समुद्र में जाकर गिरती हैं और एक हो जाती हैं, उसी तरह सब सम्प्रदाय—सब मतों में ही ज्ञान-प्राप्ति होती है। ज्ञान प्राप्त होने पर फिर कोई मतभेद नहीं रह जाता।

स्वामी विवेकानन्द

धर्म

—डॉ० सन्त कुमार
इलाहाबाद

["धर्म वह वस्तु है, जिससे पशु मनुष्य तक और मनुष्य परमात्मा तक उठ सकता है।"
—स्वामी विवेकानन्द]

धर्म वही जो पशु को मानव
मानव को जो ईश्वर कर दे
घोर तमिस्रा के माथे पर
सहज रूप जो दिनकर धर दे।

सीय राम मय सब जग दीखे
ऐसा जीवन राम बना दे
जग में रहकर भी मानव को
जग से जो निष्काम बना दे।

कर्म वही जो सत्यं शिवं
सुन्दरं पूरित जीवन कर दे
जल में भी जो कमल सरीखा
रहने का मानव को वर दे।

जहाँ अपावन ज्ञान रहेगा
और शक्ति का अतिक्रम होगा
काम क्रोध मद लोभ मोह
माया मत्सर तम ही तम होगा।

स्वार्थ और परमार्थ भावना
असुर-सुरों में अन्तर कर दे
धर्म वही जो सत् किरणों से
जीवन पथ आलोकित कर दे।

जातिवाद एक विष वृक्ष

श्री ए० के० विश्वास
आयुक्त, तिरहुत एवं सारण प्रमण्डल (बिहार)

क्या आप विश्वास करेंगे कि नोबेल पुरस्कार विजेता विश्व कवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर के पितामह स्व० द्वारिका नाथ ठाकुर को पुरी के भगवान जगन्नाथ मन्दिर में कट्टर ब्राह्मणों ने प्रवेश की अनुमति नहीं दी ? जी हाँ, यह न तो कोई कपोल कल्पना है और न कोई गप्प यह। एक ऐतिहासिक सच्चाई है जो हिन्दुत्व का नारा बुलन्द करनेवालों के समक्ष बड़ा प्रश्न चिह्न बनकर खड़ा है। एल० एस० एस० ओगेली, आई० सी० एस० के अनुसार उपनिवेशवादी शासनतंत्र द्वारा निर्मित अधिनियम रेगुलेशन-४, १८०९ की, धारा ७ के तहत भगवान जगन्नाथ के प्रसिद्ध मन्दिर में बंगाल, विहार एवं उड़ीसा के (१) लोली या कसबी (२) कलाल या सूँड़ी (३) मछुआ (४) नामशूद्र या चण्डाल (५) घुसकी (६) गाबुर (७) वागदी (८) जोगी या नखाफ (९) कहार उर्फ वीरी उर्फ दुलिया (१०) राजवंशी (११) पिराली (१२) चमार (१३) डोम (१४) पान (१५) तीयर (१६) भुई माली तथा (१७) हाड़ी (कुल-१७) जाति के लोगों का प्रवेश वर्जित कर दिया गया ।

वर्ष १८१० ई० के रेगुलेशन के प्रावधानों के तहत प्रवेश वर्जित जातियों की सूची १८०९ के रेगुलेशन की सूची की मात्र पुनरावृति है परन्तु इस सूची में पिराली जाति का नाम अंकित नहीं है।

इस मामूली परिवर्तन के सम्बन्ध में ओगेली का मार्मिक मंतव्य ध्यान देने योग्य है। ओगेली कहते हैं, यदि मन्दिर में प्रवेश की अनुमति से हिन्दू होने का कोई दावा है तो पिराली लोग एक वर्ष हिन्दू घोषित होते हैं परन्तु दूसरे वर्ष गैर हिन्दू करार दिये जाते हैं।

ये पिराली जाति के लोग कौन थे ? उपनिवेशवादी शासनतत्र ने इन्हें वर्षों अछूतों की सूची में शामिल किया और भगवान जगन्नाथ के मन्दिर में प्रवेश पर बंदिश लगायी ? यद्यपि वर्जितों की सूची में पिराली जाति के जुटने से डोम, चमार, चण्डाल, पान जैसी अछूत जातियों की मर्यादा बढ़ी परन्तु पिराली जाति के इतिहास को जानकर कोई भी मर्माहत हो सकता है। कलकत्ता का प्रसिद्ध ठाकुर परिवार बंगाल की तत्कालीन सख्त जाति व्यवस्था के अनुसार पतित ब्राह्मण थे। उन्हें पिराली कहा गया तथा जातीय शुद्धता के मापदण्ड के अनुसार भंगज या जातिभ्रष्ट की संज्ञा दी गयी।

पिराली ब्राह्मणों के जाति-च्युत होने की कथा भी अत्यन्त ही मजेदार परन्तु दुःखद है। विलियम वार्ड जो १९वीं शताब्दी में बंगाल में अंग्रेजी तथा आधुनिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार के अग्रणी माने जाते हैं, लिखते हैं कि पीर अली नाम के एक नवाब ने कतिपय ब्राह्मणों, हिन्दुओं एवं अन्य परिवारों को जातिभ्रष्ट किया तथा उन्हीं परिवारों के वंशज पिराली जाति के नाम से जाने गये।

परन्तु डब्लू० डब्लू० हन्टर कहते हैं कि पीर अली खां नाम का एक अमीन था। उसे एक मामले की जाँच के लिए यशोहर (अब बंगला देश में) के जमींदार श्रीकांत राय के यहाँ भेजा गया। वहां उसने एक ब्राह्मण पुरुषोत्तम विद्यावागीश को अपना खाना सूँघने पर मजबूर कर दिया। फिर क्या था ? कट्टरपंथी ब्राह्मणों ने फतवा सुना दिया कि म्लेच्छ का खाना सूँघना खाना खाने के ही तुल्य है तथा उन्हें जाति-च्युत घोषित कर

दिया। इसी अभागे ब्राह्मण के वंशज पिराली कहलाये। तत्कालीन कलकत्ता के सबसे समृद्ध तथा समुन्नत परिवार पिराली श्रेणी के ब्राह्मण परिवार ही थे।

वार्ड लिखते हैं कि पिराली ब्राह्मणों ने कृष्णनगर के राजा कृष्णचन्द्र राय को अपने सम्मानवर्द्धन हेतु कुछ क्षणों के लिए अपने यहाँ आने के एवज में पाँच लाख रुपए तक देने की पेशकश भी की परन्तु राजा कृष्णचन्द्र राय ने इसको ठुकरा दिया।

श्री एस० सी० बोस ने १९वीं शताब्दी में रचित अपनी पुस्तक में लिखा है कि त्रिवेणी के राम नाम के एक ब्राह्मण ने गलती से अपने पुत्र की शादी एक पिराली की कन्या से कर दी। फलतः उसके सम्बन्धियों ने उससे नाता तोड़ लिया। कट्टरपंथियों ने उसे जातिभ्रष्ट घोषित कर दिया और अभागे राम ने अपने परिजनों से त्यक्त निराशा और हताशा का शिकार होकर दम तोड़ दिया। इन सारे तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि टैगोर वंश की कट्टर ब्राह्मणों की नजर में कोई मर्यादा नहीं थी।

परन्तु इन सारे तथ्यों से एक आशंका एवं जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से उठती है। आखिर उपनिवेशवादी सरकार ने टैगोर परिवार के भगवान जगन्नाथ मन्दिर के अन्दर प्रवेश पर निषेध क्यों लगाया? आखिर ऐसे गलत एवं अविवेकपूर्ण निर्णय लेने के लिए तत्कालीन सरकार बाध्य क्यों हुई? परन्तु इस परिप्रेक्ष्य में यह सदा स्मरणीय है कि ब्रिटिश शासकों ने हिन्दुस्तानियों के धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृति व्यवस्था में बेवजह दखलअंदाजी की चेष्टा नहीं की। जब कभी प्रशासनिक दृष्टि से ऐसे हस्तक्षेप की आवश्यकता हुई उन्होंने कलकत्ता संस्कृत कॉलेज के पंडितों का परामर्श लिया और उन्हीं के सुझाव के अनुकूल कर्रवाई-की। अतः पिराली ब्राह्मणों तथा खासकर टैगोर परिवार के प्रति ऐसे अवमाननापूर्ण व्यवहार के लिए ईर्ष्यालु पुरोहितवर्ग तथा कट्टर जाति व्यवस्था ही पूर्ण रूप से जिम्मेदार है।

रवीन्द्रनाथ के पितामह को अपनी अगाध संपत्ति के लिए प्रिंस की तथा उनके पिता को सादगीपूर्ण एवं गरिमामय जीवन के लिए 'महर्षि' की उपाधि मिली। परन्तु जातीय कट्टरपंथियों की हठधर्मिता तथा पुरोहितों की कुंठा एवं ईर्ष्या के कारण उन्हें भगवान जगन्नाथ के मन्दिर में प्रवेश की अनुमति नहीं मिली। कट्टरपंथियों ने हिन्दुओं के पूर्वजों को तो मर्माहत तथा हत-गौरव किया ही परन्तु लगता है कि उनका यह अंधविश्वास आनेवाली पीढ़ी को भी अछूता नहीं छोड़ेगा। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि माउंटबेटन का स्वागत पुरी के महन्तों ने किया जबकि अम्बेदकर को प्रवेश की अनुमति नहीं दी। मंडल कमीशन के समक्ष बयान देते समय सांसद मधु दण्डवते ने इस तथ्य को उजागर किया।

गया का विष्णुपद मन्दिर भी अपवाद नहीं था। ओमैली लिखते हैं कि कुछ जातियों जिन्हें पतित हिन्दू कहा जाता था जैसे चमार, धोबी, डोम, मोची आदि को विष्णुपद मन्दिर को छोड़कर अन्य वेदियों पर पिण्डदान करने की अनुमति प्राप्त थी।

जनगणना आयुक्त ने १९११ ई० में ब्राह्मण पुरोहितों द्वारा पतित घोषित जातियों/कुनबों की जाँच हेतु दस मानक-बिन्दु स्पष्ट किये जो निम्न प्रकार हैं :—

१. जो ब्राह्मणों की परम सत्ता को स्वीकार नहीं करते;

२. जो ब्राह्मण पुरोहित अथवा सुस्थापित गुरु से मंत्र ग्रहण नहीं करते;

३. जो वेदों के प्रभुत्व को स्वीकार नहीं करते;

४. जो हिन्दू देवी देवताओं की पूजा नहीं करते;

५. जिन्हें कुलीन ब्राह्मण पारिवारिक पुरोहिती के लिए स्वीकार नहीं करते;

६. जिन्हें पारिवारिक पुरोहित है ही नहीं;

७. जिन्हें सामान्य हिन्दू मन्दिरों में प्रवेश वर्जित है;

८. जो स्पर्श मात्र अथवा कुछ दूरी से ही अपवित्रता फैलाते हैं;

९. जो अपने मुर्दों को गाड़ते हैं;

१०. जो गाय का आदर नहीं करते तथा गोमांस भक्षण करते हैं;

उपर्युक्त मान विन्दु के अनुसार ऐसी जातियों को पतित समझा जायगा। जनगणना आयुक्त का उद्देश्य शत प्रतिशत हिन्दू तथा नीचे तबकों के बीच सीमांकन करना था। उपर्युक्त सारे मानकों पर खड़े उतरने वाले शुद्ध हिन्दू घोषित हुए तथा समाज में प्रतिष्ठित हुए तथा बाकी पतित।

इस जांच का परिणाम आश्चर्यजनक एवं घातक था। ५९ जातियां ब्राह्मणों द्वारा पतित एवं अयोग्य घोषित पायी गयीं। ये जातियां थीं, वागदी, वैष्णव (वैरागी), वोरी, वेलदार, भूईमाली, भूइयां, भूमिज, विन्द, चकमा, चमार, चासाधोबा, धोबा या धोबी, डोम, दुसाध, गन्डा, गरेड़ी, हाडो, हो, जोगी, कैवर्त्त (जलिया), कालू, कलवार, कमार, कान्द्रा (खोंड), कावरी, कपाली, केवट, खरिया, खरवार, कोच, कोरा, कुम्हार, मल्ल, मल्लाह, मालो, मोची, मुंडा, मुशहर, नामशूद्र, नूनिया, उरांव, पान, पासी, पठनी, पोद, राजवंशीं, राजवाट, संथाल, सावर, साहा, सोनार, सुवर्णवनिक, सूंड़ी, सूत्रधार, तांती, तेली तियारा एवं तीयर।

बंगाल, विहार, एवं उड़ीसा में इस जनगणना में हिन्दुओं की कुल जनसंख्या ५,१५,०४,४०८ थी जिसमें उपर्युक्त अधम घोषित जातियों की जनसंख्या २,४९,५२,५४४ थी। अर्थात् हिन्दुओं की कुल जनसंख्या का ४८.४४ प्रतिशत। वंगाल प्रांत में ऐसी जातियों की जनसंख्या ५४.४४ प्रतिशत थी जबकि विहार एवं उड़ीसा में ४४%। यदि आंकड़े बोलते हैं तो यह स्पष्ट है कि बंगाल में जातीय घृणा एवं मानवीय प्रतिष्ठा पड़ोसी राज्यों की अपेक्षा बदतर थी।

यहां यह स्पष्ट कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि हिन्दू धर्म ही विश्व में एक मात्र ऐसा धर्म है जिसके माननेवालों के, मुट्ठी भर लोगों ने, इस बहुसंख्यक भाग को अछूत और नीच घोषित कर रखा है तथा लांछित एवं प्रताड़ित कर रखा है। ऐसे में हिन्दू ग्रन्थों के ऊंचे दर्शन तथा पंडितों के वसुधैव कुटुम्बकम् का नारा क्या खोखला एवं अर्थहीन नहीं लगता? धार्मिक अंध-विश्वास तथा जातिवाद का जहर हिन्दू राष्ट्र के विखण्डन, जातीय कलह, असहिष्णुता एवं भाई चारे के प्रभाव की जड़ है।

पतित घोषित इन ५९ जातियों में जातियां कई ब्राह्मणोंकी चरमसत्ता को स्वीकार नहीं करती थीं। किन्तु एक भी ऐसी जाति नहीं थी जो वेदों के प्रभुत्व को अस्वीकार करती थी। इसका कारण निश्चित रूप से यह था कि इन सारी जातियों को पढ़ने का अधिकार प्राप्त नहीं था। यहां तक कि वेद जैसे धर्म ग्रन्थों को भी सुनने का अधिकार प्राप्त नहीं था। इसके सुनने पर शूद्रों एवं चाण्डालों को कठोर दण्ड देने की व्यवस्था शास्त्रों में थी।

शायद यदि वे पढ़ पाते या समझ सकते तो इन ग्रंथो में इनकी आस्था घटती हीं। ऋग्वेद में गुदगुदी युक्त एवं अगम्य काम संभाषणों एवं प्रसंगों को प्रमुख स्थल दिया गया है। उसमें वर्णित भाई यम एवं बहन यमी का सम्वाद इस तथ्य को किसी भी संदेह सीमा से बाहर जाकर सिद्ध कर सकेगा :—

यमी—यम को प्राप्त करने की उत्कट इच्छा ही मुझे तेरे पास खींच लायी है, एक साथ एक बिछौने पर लेटने की इच्छा से अपने आपको पत्नी की तरह तुममें डुबो दूंगी। आओ एक गाड़ी के दो पहियों की तरह जुड़ जायें।

यम—मैं तुम्हारे साथ संभोगरत नहीं होऊंगा। जो अपनी बहन के साथ संभोगरत होते हैं पापी कहलाते हैं। मुझे छोड़कर किसी दूसरे के

साथ मौज करो। तुम्हारा भाई तुम्हारे साथ स्नान का इच्छुक नहीं है। किसी दूसरे का आलिंगन करो। उसके साथ लता की तरह लिपट जाओ। उसका प्यार प्राप्त करो। वह तुम्हारा प्यार प्राप्त करे। एक सुखद संयोग बनायेंगे।

यमी—आह, तुम कमजोर हो। हम तुम्हारा मन और हृदय नहीं जान सके।

नैतिकता, अध्यात्म, प्रार्थना का कोई भी बहाना इस तथ्य को झुठला नहीं सकता कि यह और कुछ नहीं स्वछन्द काम सम्वाद मात्र है।

Reference :—

1. L. S. S. O, Malley, ICS. Census of India 1911, Vol.—V, Report, Part I.
2. Shib Chunder Bose : Hindoos As They Are, Calcutta, 1881.
3. Writings & Speeches of Baba Saheb B. R. Ambedkar, Vol—4 Published by Dept. of Education, Govt. of Maharashtra, Bombay, 1987
4. W. W. Hunter : Statistical Account of Bengal, Vol. 1, London 1875
5. W. J. Wilkins : Modern Hinduism, Calcutta, 1887.

"कोई मनुष्य, कोई जाति दूसरों से घृणा करते हुए जी तक नहीं सकती। भारत के भाग्य का निपटारा उसी दिन हो चुका जब उसने इस म्लेच्छ शब्द को ढूँढ़ निकाला, दूसरों से अपना नाता तोड़ लिया। खबरदार जो तुमने इस भाव की पुष्टि की।"

—स्वामी विवेकानन्द
(पत्रावली : पृष्ठ-१७२)

(धार हिक)

शंकर चरित्र

—इन्द्रदयाल भट्टाचार्य
अनुवादक—स्वामी विदेहात्मानन्द
रामकृष्ण मिशन, रायपुर (२०२०)

प्रथम अध्याय

युग–प्रयोजन

भगवान बुद्ध ने कठोर तपस्या करके परम शान्तिमय निर्वाण की प्राप्ति की। फिर जीवों के दुःख से द्रवित होकर उन्होंने जाति-वर्ण निरपेक्ष सभी मनुष्यों का निर्वाण के पथ पर आह्वान किया था। इसके फलस्वरूप कुछ सौ वर्षों के भीतर ही भारतवर्ष के अधिकांश लोग वैदिक धर्म को छोड़कर बुद्धदेव द्वारा निर्वाण-प्राप्ति के प्रयास में लग गये। राजसभाओं से लेकर गरीबों के पर्णकुटीर तक राजपुत्र बुद्धदेव की जीवन कथा से मुखरित हो उठे। देश में सर्वत्र बौद्ध-संन्यासियों के मठ स्थापित हुए। वे लोग भारत के बाहर भी विभिन्न देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करते हुए भ्रमण करने लगे।

निर्वाण पाकर मनुष्य को चिरशान्ति मिलती तो है, परन्तु उसे पाने के लिए बड़ा कष्ट स्वीकार करना पड़ता है। बुद्धदेव के जीवन का ज्वलन्त उदाहरण ज्यों-ज्यों पुराना होने लगा, त्यों-त्यों लोगों का निर्वाण-लाभ करने का आग्रह भी घटता गया। साधन-तपस्या तथा नियम-निष्ठा शिथिल हो गये और संन्यासी के आश्रम में भोग एवं आलस्य ने प्रवेश किया। क्रमशः धर्म केवल मतवाद और आचार मात्र में परिणत होकर रह गया। अब धूर्त लोग बुद्धदेव के उपदेशों की अपनी सुविधानुसार तरह-तरह से व्याख्या करने लगे। इसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म के नाम पर कितनी ही तरह के विचित्र मतों तथा वीभत्स घृण्य आचारों का प्रचलन हो गया, जो भारतवर्ष के सर्वनाश का कारण सिद्ध हुआ। उन परस्पर विरोधी मतों एवं आचारों को लेकर लोग आपसी ईर्ष्या-द्वेष से जलने लगे। वे अपनी साधन-प्रणाली का अनुष्ठान किये बिना ही उसे दूसरों की प्रणाली से उत्कृष्ट सिद्ध करने के प्रयास में लगे रहते। ज्ञान एवं भगवत्प्राप्ति की बात को भूलकर कोई-कोई नाम-यश के लिए विविध प्रकार की शक्तियाँ पाने की चेष्टा में उन्मत्त हो उठे। धर्म एक व्यवसाय में परिणत हो गया। चतुर लोगों ने ढोंग के सहारे समाज-शिक्षक गुरु का स्थान ले लिया। ऋषियों द्वारा अनुभूत वेदों के तत्त्व से अपरिचित होने के कारण लोग ढोंगियों के मत को वेद के समान मान देने लगे। समाज में सज्जनों का मान नहीं रहा।

बौद्ध धर्म के सर्वग्रासी प्रभाव के बावजूद किसी-किसी स्थान में कुछ ब्राह्मण बड़े कष्ट से वेदपाठ तथा वैदिक धर्म के अनुष्ठान की परम्परा का किंचित् परिमाण में निर्वाह किये जा रहे थे। देश के इस दुर्दिन में, बौद्ध धर्म के इस घोर अवनति के युग में, वे पुनः वैदिक धर्म के प्रचार का प्रयास करने लगे। क्रमशः वह आन्दोलन प्रबल आकार धारण करता गया। ईसा की सातवीं शताब्दी में प्रयाग के कुमारिल भट्ट वेदप्रचारार्थ दिग्विजय को निकले।

कुमारिल भट्ट

कुमारिल भट्ट वेदादि शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित, अत्यन्त तेजस्वी और कर्मकाण्ड में निपुण गृहस्थ ब्राह्मण थे। बौद्ध-भ्रष्टाचार के फलस्वरूप हो रही लोगों की दुःखद अवस्था देखकर उन्होंने शान्तिदायी वैदिक धर्म के प्रचार का संकल्प किया। बौद्ध लोग बड़े कूट-तर्क में लगे रहते थे। कुमारिल ने सोचा कि उनके शास्त्रों में भली-भाँति पारंगत हुए बिना उनके साथ तर्क में पार पाकर वैदिक धर्म की स्थापना सम्भव नहीं है। इसीलिए वे शिक्षार्थी बनकर बौद्ध विद्वानों के पास उनके शास्त्रों का अध्ययन करने गये। वहाँ एक दिन बौद्ध लोग वेदों की बड़ी निन्दा कर रहे थे, जिसे सुनकर कुमारिल को इतना कष्ट हुआ कि वे अपने आँसू रोक नहीं सके। उन्हें रोते देखकर बौद्धों को आश्चर्य हुआ। वे भी अब अपने हृदय का भाव छिपाये न रख सके और उन लोगों के साथ वेद के सम्बन्ध में विचार करने को प्रवृत्त हुए। कूट-तार्किक बौद्धों के साथ तर्क-वितर्क करते हुए उत्तेजित होकर कुमारिल सहसा एक कठिन शर्त लगा बैठे। वह यह था कि वे एक पहाड़ की चोटी से (किसी-किसी के मतानुसार एक ऊँचे भवन से) नीचे कूदेंगे और यदि वेद सत्य हों तो उनके प्राण बच जायेंगे। वे अपने वचन के अनुसार सचमुच ही पहाड़ से कूदे और जीवित रह गये, केवल उनकी एक आँख ही नष्ट हो गयी थी। उन्होंने कहा कि मैंने वेद के बारे में 'यदि सत्य हों'—ऐसा जो सन्देह सूचक वाक्य कहा था, उसी के पाप से यह आँख चली गयी। वेदों पर उनका ऐसा ही अटल विश्वास था।

उन दिनों भारत के अनेक राजा बौद्ध मत के अनुयायी थे। बौद्ध लोगों ने धर्म को त्यागकर राजाओं का आश्रय लिया और राजा लोग ही उनकी रक्षा करते थे। कुमारिल भट्ट अब राजसभाओं में आकर बौद्धों को तर्क युद्ध में आह्वान करने लगे। इस युद्ध में शर्त रहती थी कि जो पक्ष हार जाएगा वह विजेता पक्ष का शिष्यत्व स्वीकार कर लेगा अथवा मृत्यु का वरण करेगा। इस भीषण शर्त की बात सुनकर भी भय लगता है। परन्तु बौद्ध लोग अपनी बुद्धि के अहंकार में उन्मत्त थे। वे अपनी शिक्षा के दर्प में अग्नि में पतंग के समान ब्रह्मतेज से उद्दीप्त भट्टपाद की तर्काग्नि में दग्ध होने को कूद पड़े। उनके साथ तर्क में कोई भी जीत नहीं सका। उनमें जो सच्चे धर्मपिपासु थे, वे अपना भ्रम समझकर भट्ट के शिष्य बन गये और जो धर्मध्वजी थे, उन्होंने अपने गौरव की रक्षा में दम्भपूर्वक मृत्यु का आलिंगन किया। कुटिल, कपटाचारी, और समाज के सर्वनाशकारी प्रच्छन्न असुरों को दण्ड देने के लिए ही कुमारिल का जन्म हुआ था।

तर्कयुद्ध में विजय तथा वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए कुमारिल भारत के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में विचरण करने लगे। बौद्धगण बड़ी कठिनाई में पड़े। उनमें अब धर्म-विश्वास, त्याग-तपस्या और संघबद्धता का अभाव था, अतः वे कुमारिल को रोक नहीं सके और तर्क-तरंगों की प्रखर धारा में तृण के समान बहने लगे। उन दिनों रेलगाड़ी और डाक व्यवस्था तो थी नहीं, कुमारिल की विजय गाथा अनेक प्रकार से रंजित और अतिरंजित होकर सारे भारत में फैल गयी। देश भर में एक महान धर्मान्दोलन का उदय हुआ। वेदपाठ तथा यज्ञों के अनुष्ठान से भारत का अवैदिक भाव दूर होने लगा। ऐहिक जगत की सर्वस्वता का ह्रास होने से सनातन धर्म का पुनरुत्थान हुआ।

जिन राजाओं ने बौद्धधर्म को छोड़कर वैदिकधर्म स्वीकार किया, उनमें कर्णाट के राजा सुधन्वा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कुमारिल के अनेक विद्वान् शिष्य थे, जिनमें प्रभाकर और मण्डन मिश्र प्रमुख थे। मण्डन को तो भट्टजी अपने से भी अधिक बुद्धिमान मानते थे।

कुमारिल ने बौद्धों को पराजित करने के लिए कपट-शिष्य बनकर उनके शास्त्रों का अध्ययन किया था। अपनी शिक्षा पूरी हो जाने के पश्चात् उन्होंने—"विजेता का शिष्यत्व स्वीकार करना होगा अथवा मृत्यु का वरण करना होगा,"—इस शर्त के साथ उन्होंने बौद्धों का

तर्कयुद्ध में आह्वान किया था। शर्त के अनुसार अनेक शिक्षक भी आत्महत्या करने को बाध्य हुए थे। समग्र भारत में वैदिक धर्म का प्रचार-कार्य पूरा हो जाने पर कुमारिल ने गुरुद्रोह-रूपी महापाप का प्रायश्चित करने के लिए तुषानल में प्रविष्ट होकर मृत्यु का वरण किया। सनातन वैदिक धर्म का आदर्श ऐसा ही महान है!

कुमारिल ने बौद्ध कुराचार के स्थान पर वैदिक सदाचार की स्थापना की। सदा औरचार उपासना से मनुष्य का मन पवित्र होता है। परन्तु ज्ञान हुए बिना, केवल धर्म-कर्म से ही मनुष्य मुक्तिलाभ नहीं कर सकता। वैदिक ज्ञानयोग समस्त सदाचारों तथा सकल धर्मों का आधार और मुक्ति का पथप्रदर्शक है। वैदिक-धर्म कर्म से आरम्भ होता है और ज्ञान में पूर्णता को प्राप्त होता है। वैदिक धर्म में पूर्णता को परिपुष्ट करने के लिए कुमारिल भट्ट के पश्चात् परमहंस परिव्राजकाचार्य भगवान शंकर का आविर्भाव हुआ।

द्वितीय अध्याय

आविर्भाव

दक्षिण भारत की पश्चिमी सीमा पर मालाबार अंचल है, जिसे केरल प्रान्त कहते हैं। वहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से वैदिक-धर्मपरायण नम्बूदरी ब्राह्मणों का निवास है। एक किम्वदन्ती के अनुसार भगवान परशुराम ने भविष्य-वाणी की थी कि कलियुग आने पर बौद्धधर्म के प्रभाव से आर्यावर्त में वैदिक धर्म लुप्तप्राय हो जाएगा; उस में भी वैदिक धर्म को शुद्ध बनाये रखने के उद्देश्य से उन्होंने आर्यावर्त से एक वैदिक-ब्राह्मणकुल को दक्षिणा-पथ के मालाबार में ले जाकर बसा दिया। तभी से उस कुल के लोग प्राचीन वेदाचार की रक्षा करते आ रहे हैं।

ईसा की सातवीं शताब्दी में मालाबार के कालडी नामक ग्राम में शिवगुरु नाम के एक निष्ठावान नम्बूदरी ब्राह्मण निवास करते थे। उनकी पत्नी विशिष्टा देवी भी उन्हीं के समान धर्म-कर्म में निरत रहा करती थीं। शिवगुरु के मन में विवाह करके गृहस्थी बसाने की इच्छा न थी, परन्तु इकलौते पुत्र होने के नाते पिता के आग्रह पर उन्हें विवाह करना पड़ा। काफी आयु तक उनके कोई सन्तान नहीं हुई। प्रौढ़ावस्था के बाद पति-पत्नी ने पुत्र के निमित्त शिव की आराधना की। शिवजी के वरदान से उनके यहाँ एक पुत्र का जन्म हुआ। वह ६०८ शकसंवत् (६८६ ई०) के १२ वैशाख शुक्ल तृतीया का दिन था। शिवगुरु ने अपने इष्ट के नाम पर शिशु का नाम भी शंकर ही रखा।

शंकर अपने बाल्यकाल से ही अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय देने लगे। एक वर्ष के होते न होते, वे अपनी मातृभाषा में सबके समान ही वार्तालाप करने लगे। दो-तीन वर्ष के होने पर वे अपने माता-पिता के मुख से पुराणों की कथा सुनकर उनकी यथावत् पुनरावृति कर पाते थे। वे श्रुतिधर थे; जो भी एक बार सुन लेते, सदा के लिए उनके मानस-पटल पर अंकित हो जाता। आयु के तीन वर्ष पूर्ण होने के पूर्व ही उनके पिता ने देहत्याग कर दिया। कुल की परम्परा के अनुसार विशिष्टा देवी ने पुत्र के पाँचवे वर्ष में उपनयन कराया और वेदपाठ की शिक्षा के लिए गुरुगृह भेज दिया। अपनी असाधारण स्मरणशक्ति तथा मेधा के द्वारा शंकर गुरु के मुख से शास्त्रवाक्य सुनकर उन्हें अर्थ सह कण्ठस्थ कर लेते थे। गुरु भी विस्मय-विमुग्ध होकर आनन्दपूर्वक उन्हें निरन्तर शिक्षा देने लगे। दो वर्ष के भीतर शंकर का वेद-वेदांग अध्ययन पूरा हो गया। तब उनकी आयु सात वर्ष मात्र थी!

वैदिक परम्परा के अनुसार शिक्षा-काल के दौरान सहनशीलता और विनम्रता का अभ्यास करने के लिए छात्रों को भिक्षा माँग कर खाना पड़ता है। बालक शंकर एक दिन भिक्षा माँगते हुए एक निर्धन ब्राह्मण के घर पहुँचे। उनका प्रभादीप्त मुखमण्डल देखकर ब्राह्मणी का हृदय स्नेह से अभिभूत हो गया, परन्तु उनके गृह में भिक्षा में देने योग्य कुछ था नहीं। "भवति, भिक्षां

देहि"—कहकर शंकर ने जब भिक्षा की याचना की तो सौम्य बालक को लौटाने में असमर्थ होकर ब्राह्मणी ने रोते हुए भिक्षा के रूप में कुछ आंवले शंकर के हाथ में रख दिये। ब्राह्मणी का दुःख देखकर उनके शिशु-हृदय को बड़ी चोट पहुँची। शैशव से ही माता-पिता के मुख से पुराणों की कथाएँ सुनते-सुनते देवी-देवताओं के प्रति उनके मन में प्रगाढ़ श्रद्धा जन्मी थी। वे व्याकुल होकर माँ-लक्ष्मी से प्रार्थना करने लगे कि शीघ्र ही ब्राह्मणी के दुःख दूर हो जायँ। थोड़े दिनों में ही उस ब्राह्मण दम्पति का भाग्य पलटा और सचमुच उनकी अवस्था सुधर गयी।

शिक्षा पूरी हो जाने के बाद गुरु-दक्षिणा देकर शंकर घर लौटे। शास्त्र पठन के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय में उनका मन नहीं लगता था। दिन-रात वे ग्रन्थों में ही डूबे रहते थे। सात वर्ष का एक बालक असाधारण पण्डित हो गया है, यह संवाद चारों ओर फैल गया। दल के दल लोग उन्हें देखने को आने लगे। पण्डित लोग उनकी विद्या जाँचने, कौतूहली लोग इस अद्भुत् बालक को देखने और भक्तगण उन्हें उपहार देने को आने लगे। सभी आशातीत आनन्द पाकर लौटे। बहुत से छात्र आकर उनसे शिक्षा प्राप्त करने लगे।

केरल के राजा के पास भी यह संवाद अविलम्ब जा पहुचा। राजा स्वयं भी पण्डित और विद्या के अनुरागी थे, अतः वे शंकर को देखने के लिए व्यग्र हो उठे। राजा का निमंत्रण पाकर भी शंकर राजसभा में जाने को तैयार नहीं हुए। परन्तु राजा इस पर नाराज़ नहीं हुए और स्वयं ही आग्रहपूर्वक बाल-पण्डित को देखने उनके पास गये। शंकर की अद्भुत् स्मरण-शक्ति, शास्त्रों का मर्म समझने की असाधारण प्रतिभा तथा उनकी व्याख्या करने की अपूर्व पद्धति देखकर वे विस्मय विमुग्ध हो गये। गुणीजन को पुरस्कार देना राजा का कर्तव्य है, अतः वे शंकर को बहुत-सा धन देने लगे। परन्तु शंकर ने कुछ भी स्वीकार नहीं किया बल्कि उन्होंने सारा धन निर्धनों के बीच बाँट देने का उपदेश दिया।

आलवाय नदी उन दिनों शंकर के घर से दूर बहती थी। लोग इसका जल बड़ा पवित्र मानते थे, इसलिए वृद्धा विशिष्टा देवी प्रतिदिन उसमें स्नान करने को जाती थीं। ग्रीष्म के मौसम में एक दिन उनकी माता को स्नान करके लौटते काफी विलम्ब हो रहा है, यह देख शंकर उन्हें ढूंढने निकले। थोड़ी दूर जाने पर उन्हें दिखा कि माँ मूछित अवस्था में धरती पर पड़ी हुई हैं। इस पर वे बड़े दुखी हुए; सेवा-सुश्रूषा के बाद माँ की बेहोशी टूटने पर वे उन्हें घर ले आये। फिर उन्होंने सरल चित्त के साथ नदी से प्रार्थना की कि कल से वे उनके घर के पास से होकर प्रवाहित हों। श्रद्धा हो तो कुछ भी असाध्य नहीं है। अगले दिन समस्त ग्रामवासी यह देखकर चकित रह गये कि आलवाय नदी की धारा शंकर के घर के पास से होकर बह रही है! वृद्धा विशिष्टा देवी के आवागमन का कष्ट दूर हुआ। इन सब घटनाओं से एक ओर वृद्धा के मन में हर्ष तो होता, पर साथ ही कभी कभी एक अज्ञात आशंका उनके हृदय में उत्थित होकर उन्हें चिन्तित भी कर देती।

शंकर की अलौकिक प्रतिभा समाज के सभी प्रकार के लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया करती। एक वार ज्योतिष के कुछ पण्डित शंकर की जन्म-कुण्डली पर विचार करने की इच्छा से उनके घर आये। उनकी माता भी अपने असाधारण पुत्र का भविष्य जानने को उत्सुक थीं। पण्डितगण उनकी जन्मपत्रिका को देखकर अत्यन्त आनन्दित हुए, क्योंकि ग्रह-नक्षत्रों का ऐसा समावेश आम लोगों के भाग्य में नहीं जुटता। माता भी उन लोगों की चर्चा सुनकर अतीव हर्षित थीं। सहसा पण्डितों ने दुःखी और गम्भीर होकर आपस में कुछ संकेत करते हुए गणना बन्द कर दी। मां का हृदय यह देख आशंका से कांप उठा। विशिष्टा देवी ने सौगंध देते हुए पण्डितों से सब कुछ स्पष्ट रूप से बताने का अनुरोध किया। पुत्र की अकाल मृत्यु की बात माँ के सम्मुख

व्यक्त करना बड़ा कठिन है। परन्तु जो घटना अल्प दिन बाद ही होनेवाली है, उसे छिपाने में भी क्या लाभ! विशेषकर, जैसे उन लोगों ने सहसा ही गणना बन्द कर दी थी, उससे वृद्धा के मन में भयानक आशंका का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। यह सब सोचकर पण्डितों ने स्पष्ट रूप से बता दिया कि शंकर की आयु केवल आठ वर्ष ही लिखी है; पर हाँ, तपस्या के द्वारा उसमें और भी आठ वर्ष की वृद्धि हो सकती है।

जिसके जीवन के अब मात्र कुछ दिन ही बच रहे थे उनकी तथा उनकी माता की मानसिक अवस्था का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है, विशेषकर तब जबकि विशिष्टा देवी के उस इकलौते पुत्र के अलावे संसार में दूसरा कोई न था और वह पुत्र भी रूप-गुण में अलौकिक था। वे रात-दिन सहायता के लिए भगवान की गुहार लगाने लगीं। शास्त्र पढ़कर शंकर को यह विदित हो गया था कि ज्ञान हुए बिना मृत्यु हो जाने पर पुनः जन्म लेकर त्रिताप में दग्ध होना पड़ता है। वे सोचने लगे कि इतने अल्प समय में तो ज्ञान प्राप्ति सम्भव नहीं, तथापि शास्त्र में लिखा है कि संन्यास ग्रहण कर लेने से परलोक में सद्गति होती है। उन्होंने माँ के समक्ष अपने मन का भाव व्यक्त किया। ऐसी अवस्था में उनकी माता के लिए कोई निर्णय ले पाना बड़ा कठिन था; एक ओर थी मृत्यु और दूसरी ओर संन्यास—दोनों ही विकल्प माँ के लिए असहनीय थे। प्रबल दुश्चिन्ता के बीच माँ और पुत्र के दिवस बीतने लगे।

एक दिन शंकर अलवाय नदी में स्नान करने को उतरे थे कि उसी समय एक घड़ियाल ने उन पर आक्रमण कर दिया। वे जोरों से चीख उठे। वहाँ उपस्थित सभी लोग कोलाहल करने लगे, परन्तु अपने जीवन को संकट में डालकर कोई भी शंकर की रक्षा में जाने का साहस नहीं जुटा सका। शोरगुल सुनकर उनकी माता भी वहाँ दौड़ी आयीं। उस समय घड़ियाल शंकर को गहरे जल की ओर ले जा रहा था और शंकर "माँ, संन्यास दो", "माँ, संन्यास दो"—कहकर चीत्कार कर रहे थे। जननी को समझते देरी न लगी कि अब पुत्र का जीवन समाप्त प्राय है। उस समय उनके पास सोचने का समय और सामर्थ्य भी नहीं था। वे संन्यास की अनुमति देकर अचेत हो गयीं। बड़े आश्चर्य की बात है कि माँ की अनुमति पाकर शंकर के मन ही मन संन्यास ग्रहण करते ही घड़ियाल ने उन्हें छोड़ दिया। वे अपने अक्षत शरीर से तैरते हुए किनारे आ गये। लोगों की सेवा-सुश्रूषा से विशिष्टा देवी की मूर्छा भी दूर हुई।

होश में आने पर पुत्र का मुख देख विशिष्टा देवी के प्राण शीतल हुए परन्तु तुरन्त ही पुत्र के संन्यास की स्मृति आते ही वृद्धा का हृदय प्रबल शोक से परिपूर्ण हो उठा। इस हृदय-विदारक घटना को देखने वाले सभी लोग शोक से अभिभूत हो गये। शंकर ने अपनी सारी सम्पत्ति अपने सम्बन्धियों को दान करके उन्हीं को अपनी माता के पालन-पोषण का भार सौंप दिया। सम्पत्ति के लोभ में सम्बन्धीगण विशिष्टा देवी को तरह-तरह से सान्त्वना प्रदान करने लगे। परन्तु माँ का मन क्या केवल कोरी बातों से शान्त हो सकता है! अन्त में शंकर ने काफी अनुनय-विनय करते हुए तीन प्रतिज्ञाएँ कीं :—

(१) वे मृत्यु के समय माँ के पास उपस्थित होंगे।

(२) मृत्यु के समय वे माँ को भगवान का दर्शन कराएँगे।

(३) अपने हाथों से वे उनका अन्तिम संस्कार करेंगे।

इस पर वृद्धा किंचित शान्त हुई और उन्होंने शंकर को गृहत्याग की अनुमति दे दी। आठ वर्ष के बालक ने माँ को साष्टांग प्रणाम किया और मानव जीवन के सर्वोच्च आदर्श की उपलब्धि के हेतु कठोरतम जीवन पथ की ओर अग्रसर हुए।

(कहानी)

छोटे से बड़ा

—स्वामी विवेकानन्द

(ईश्वर--प्राप्ति के लिए साधना अथवा संसार की उन्नति के कार्य एक दिन में नहीं होते। एक छलांग में पहाड़ की चोटी पर नहीं चढ़ा जा सकता। एक-एक कदम आगे बढ़ने पर ही अंततः वहाँ पहुँचा जा सकता है। संसार की उन्नति करने हेतु भी उसी तरह अथक प्रयास एवं धैर्य आवश्यक है। धर्म साधना के साथ भी यही बात है। प्रारम्भ में छोटी साधनाओं से, फिर कुछ बड़ी साधनाओं के जरिए अन्ततः भगवान के समीप पहुंचा जा सकता है। साधना का उपदेश देते वक्त स्वामीजी ने इस कहानी का उल्लेख किया था। उनकी राजयोग पुस्तक में यह कहानी संकलित है।)

एक बड़े अत्याचारी राजा थे। वे प्रजा के ऊपर घोर अत्याचार किया करते थे। बस उन्हें अपने आनन्द एवं अपनी सुख-सुविधा का ख्याल रहता। प्रजा की ओर देखने का भी अवसर उन्हें न था।

भारतवर्ष में बहुत अच्छे राजा भी हुए। आज भी लोग उनके सुकर्मो की चर्चा करते है एवं देवताओं की भांति उनसे श्रद्धा करते हैं। वे प्रजा को संतान की तरह चाहते थे। अपने पुत्र के लिए पिता जिस तरह सोचते हैं, उनकी शिक्षा एवं सुख-सुविधा की व्यवस्था कर देते हैं, उसी प्रकार राजा भी प्रजा के लिए सोचते थे। इनमें से कुछ तो स्वयं को प्रजा-सेवक समझते थे, जिन्हें भगवान ने इस विशाल समाज की सेवा का भार सौंपा है। सभी मनुष्यों में भगवान का वास है। अतः प्रजा की सेवा ही भगवान की सेवा है।

कोई-कोई सोचते थे कि राज्य, राजधानी, राजमहल सभी प्रजा की सम्पत्ति है। राजकोष प्रजा का ही धन भण्डार है। प्रजा के सेवक रूप में राजा इन सारी चीजों की रक्षा करते एवं प्रजा की उन्नति के लिए ही व्यय करते। अपने सुखों एवं आनन्द के लिए वे राजभंडार से एक पैसा भी खर्च नहीं करते थे। अपने खाने और पहनने के लिए जितना आवश्यक होता, उतना ही धन वे लेते। राजा-रानी सभी सामान्य लोगों की भांति जीवन व्यतीत करते।

परन्तु जिस राजा का उल्लेख यहां है, वे थे इन सबों के ठीक विपरीत। मनुष्य जिस प्रकार दूध एवं खेती के लिए गाय पालता है, खाने के लिए हंस-बकरियां पालता है, चूहे मारने के लिए बिल्ली पालता है, ठीक उसी तरह अपने स्वार्थ के लिए ही वे प्रजा-पालन करते। रुपया-पैसा अपने अनुसार जहां-तहां खर्च करते। जब भी वे राजकोष को शून्य होते देखते, प्रजा के पास से जबरदस्ती पैसा वसूल लेते। जब-तब किसी का भी सिर काट देने का आदेश दे देते। जिस किसी को भी बन्दी बना लेते अथवा पहाड़-पर्वत में बाघ के समक्ष लोगों को छोड़ कर मजा लेते। कभी भी विचार या न्याय का सहारा नहीं लेते थे।

राजा के अत्याचारों से देश के निवासी धीरे-धीरे विरक्त हो उठे। परन्तु मुंह से विरोध प्रकट करने का साहस किसी को भी न था। क्योंकि जो भी विरोध प्रकट करता, उसके भाग्य में महाविपत्ति घट जाती। शायद उसके सिर काटने का आदेश दे दिया जाय, या फिर कोई और सजा। इसलिए देश के लोग चुप-चाप सारे अत्याचारों को सह लेते।

मनुष्य के अन्दर में महाशक्ति के रूप में भगवान वास करते हैं। अत्याचार, अधर्म और अविचार जब

अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं, तब मनुष्य के अन्दर की उस महाशक्ति का जागरण होता है। सुप्त साँप जिस प्रकार फण उठा कर खड़ा हो जाता है उसी प्रकार इस शक्ति का आविर्भाव मनुष्य के मन में होता है।—किसी का भी भय उसे दबाकर नहीं रख सकता।

धीरे-धीरे राज्य में विद्रोह की तांडव लीला शुरू हो गई। राजा के अत्याचार के फलस्वरूप दो-एक स्थानों में विद्रोह की चिनगारियां फूटीं। राजा अपनी समस्त शक्ति एवं उत्साह के साथ विद्रोह का दमन करने लगे। दोषी-निर्दोष बिना कुछ विचार किए राजा ने अनेक लोगों को शीश-विहीन किया, अनेक को देश-निकाला का आदेश दिया, और बाकी बचे लोगों को सिपाहियों के द्वारा खूब पिटवाया। फिर आनन्दित होकर उन्होंने सोचा कि उन्होंने बहुत वीरता का कार्य किया है, अब और कहीं विद्रोह नहीं होगा।

नदी का पानी जब सागर की ओर सवेग प्रवाहित होता है, तो कोई भी बाँध उसे नहीं रोक सकता है। किसी भी तरह विद्रोह की अग्नि को नहीं दबाया जा सका। राजा जितना अत्याचार के द्वारा विद्रोह को रोकना चाहते, वह उतना ही बढ़ता जाता। देखते-देखते आबाल वृद्ध नर-नारी सभी के मन में विद्रोह की भावना भर गयी।

देश के सारे बुद्धिजीवी चिंतित हो गये। परन्तु राजा को समझाने की योग्यता किसी में भी नहीं थी। बहुत सोचकर उन्होंने निश्चय किया कि कुछ मंत्रियों के साथ जाकर वे राजा से मिलेंगे। पहले जाकर वे महामंत्री से मिले एवं उन्हें जनता की अवस्था से अवगत कराया।

राजा जैसे कुकर्मी थे वैसे ही अच्छे थे उनके मंत्री। देशवासियों को वे प्राण से भी अधिक चाहते थे। परन्तु किस तरह प्रजा को बचाया जाय, यह उनकी भी समझ में नहीं आया। राजा का स्वभाव कैसा था, यह उन्हें अच्छी तरह से मालूम था।

फिर भी साहस करके उन्होंने एक दिन राजा से कहा, "महाराज, गुस्ताखी माफ करें तो दो-एक बातें कहूँ।"

राजा ने कहा, "क्या चाहते हो ?"

मंत्री ने कहा,—"महाराज, आप इस राज्य के मालिक हैं। आप ही प्रजा के माँ-बाप हैं। आप जो करेंगे, वही होगा। आपने प्रजा की शिक्षा का कोई प्रबंध नहीं किया है, राज्य में जन-बल एवं धन-बल की वृद्धि के लिए भी कोई कार्य आपने नहीं किया है। आज आपका विरोध हो रहा है। यदि यह विरोध बढ़ जाय तो परिणाम की बात सोच मैं सिहर उठता हूँ।"

मंत्री की बात पर राजा मन ही मन बड़े खिन्न हुए। खूब गंभीर होकर उन्होंने उत्तर दिया—"मंत्री, आज तुमने जो बातें कही हैं, फिर इसकी पुनरावृत्ति कभी न हो। प्रजा के विद्रोह से मैं डरने वाला नहीं हूँ। दो दिन इंतजार करो। देखो राज्य के घर-घर में यदि मैंने आग नहीं लगा दी, मनुष्य के मांस से कुत्ते-गिद्ध को महाभोज न कराया, सारे राज्य में यदि रक्त की नदी न बहायी, तो मेरा नाम बदल देना। यदि तुम मेरे मंत्री न होकर कोई और होते, तो मेरी पिपासित तलवार तुम्हारा रक्तपान कर शांति लाभ करती।"

दोनों हाथों से मंत्री ने राजा का पैर पकड़ लिया और कहा, "अपने प्राणों की चिंता मुझे नहीं है, किन्तु दुःखित प्रजा के व्याकुल क्रन्दन को सुन मेरा अन्तर व्यथित हो चला है। मैं आपके पैर पड़ता हूँ, महाराज, एक बार उन रोते मुखड़ों पर भी तो स्नेह-दृष्टि बरसाइए। वे भूखे हैं, वे नंगे हैं, उनके अधरों पर विषाद है, प्राणों में शांति नहीं है। आप उन पर अत्याचार कर उनके दुःखों को और बढ़ा रहे हैं। उनके अश्रुकण हमारे ऊपर अभिशाप बन आ पड़ेंगे। अभी भी समय है, आप जिस पथ पर चल रहे हैं, वह ठीक नहीं है, लौट आइए। इस घृणित मार्ग से विमुख हो जाइए।"

यह सब कहते-कहते मंत्री की दोनों आँखें भर आयीं।

परन्तु उसकी बातें राजा के अन्तर को स्पर्श नहीं कर पायीं। अत्यन्त क्रोधित होकर राजा ने कहा, "उपदेश की भी एक सीमा होती है। परन्तु तुम सीमा से आगे बढ़ गये हो। किस साहस से तुम यह सब धर्म-कथा सुनाने आये हो, मैं वही सोच रहा हूँ। तुम्हें पता नहीं कि धर्म-कथा कविता और राजनीति एक नहीं होती है। यदि धर्म करने की इच्छा हैं, कविता करने को मन होता है, तो फिर मेरे कार्य से अवकाश ग्रहण क्यों नहीं कर लेते ? अपना कर्त्तव्य मैं जानता हूँ, मैं तुम्हें फिर सावधान करता हूँ, यह सब धर्म-उपदेश मुझे पुनः न सुनाना।"

अत्यन्त दुखित हो मंत्री घर लौट गये और मन ही मन प्रार्थना करने लगे—"हे ईश्वर, राजा को सुमति दो।"

एक दिन राज्य के कुछ गिने-चुने लोग मंत्री से मिलने उसके घर आये। खूब आदर के साथ मंत्री ने उन्हें बैठाया। फिर मंत्री ने ध्यान से उनकी बातें सुनीं। एक-एक कर सब ने राजा के अत्याचारों का वर्णन किया। दुःखी मंत्री की आँखें भर आयीं एवं उसने कहा, मुझे पता है, देश के बारे में सोचते-सोचते मेरी निद्रा, मेरा आहार सब कुछ समाप्त हो गया है, परन्तु कोई उपाय नहीं सूझता। आप देश के गण्यमान्य व्यक्ति हैं। हम सभी की चेष्टा से एक ऐसा समाधान अवश्य मिलेगा, जिससे राजा-प्रजा सबका कल्याण होगा।

मंत्री की बातों एवं सहृदय व्यवहार से सभी व्यक्ति तृप्त हुए। देश की स्थितिं पर विचार करते-करते वे लौट आये।

अत्याचारियों का एक स्वभाव होता है, वे किसी पर भी विश्वास नहीं कर सकते—अपनी स्त्री, पुत्र पर भी नहीं। राजा के अनुचर छद्मवेश में घूम-घूम कर सब समाचार राजा को देते थे। सभी जगह वे विद्यमान रहते एवं सारे समाचारों से राजा अवगत हो जाता। मंत्री के घर में क्या मंत्रणा हुई है, यह खबर भी राजा को मिल गयी।

राजा ने एक दुर्ग में मंत्री को बन्दी बनाकर रख दिया। दुर्ग के ऊपरी हिस्से में मंत्री एक छोटे से कमरे में रहता था। कोई वहाँ नहीं जा सकता था। दिन-रात दुर्ग के द्वार पर सिपाही पहरा देते। धीरे-धीरे यह बात मंत्री की पत्नी को मालूम हुई। वे भी मंत्री के सदृश ही अच्छी एवं बुद्धिमती थीं। वे रोयीं नहीं, स्थिर भाव से उन्होंने सोचा कि किस प्रकार मंत्री का उद्धार किया जाय।

संध्या के बाद मंत्री की स्त्री रोज दुर्ग के पिछले हिस्से में जाकर बैठी रहतीं। वे चारों ओर देखतीं एवं सोचतीं किस प्रकार मंत्री का उद्धार किया जाए। मंत्री के घर से एक दीवार सीधे नीचे उतर गयी थी। नीचे पहाड़ एवं पत्थर का एक स्तूप था। ऊपर से कूदने पर शरीर टुकड़ा-टुकड़ा हो जायगा।

घर से मंत्री रोज देखते कि कोई एक प्रतिदिन शाम को दुर्ग के नीचे बैठा रहता है। मंत्री ने अन्ततः अपनी स्त्री को पहचान लिया। दुर्ग के ऊपर से मंत्री सोचते और नीचे उसकी पत्नी सोचती। भागने का कोई पथ नहीं दिखता था। जिनके पास बुद्धि एवं धैर्य है, उनके लिए कोई भी कार्य असाध्य नहीं है। अनेक दिनों के सोचने के बाद मंत्री को भागने का एक उपाय सूझा।

दूसरे दिन जब मंत्री की स्त्री दुर्ग के नीचे आकर बैठी, वैसे ही ऊपर से एक पत्ता आकर गिरा। पत्ते में एक पत्थर का टुकड़ा बांधा हुआ था। पत्ते में लिखा था "आनेवाले कल की शाम को एक गोबर पर उड़नेवाला कीड़ा, थोड़ा मधु एवं खूब लंबा रेशम का सूता, थोड़ा मजबूत धागा, पतली रस्सी मध्यम आकार की रस्सी एवं एक मोटी रस्सी लाना।"

पत्ते को आंचल में छिपाकर उसकी स्त्री घर लौट गई। मंत्री इधर दुर्ग में बैठकर सोचने लगे, "भागूं कि

नहीं ? दुर्ग में रहकर क्या होगा ? भागकर देश का कुछ कल्याण किया जा सकता है।"

बहुत सोचकर मंत्री ने सोचा कि भागना ही उचित होगा। प्राण रक्षा के लिए भागने वाले व्यक्ति मंत्री नहीं थे। देश का दुःख ही उनके अन्तर को व्यथित कर रहा था।

दूसरे दिन संध्या को मंत्री की स्त्री को पुनः दुर्ग के नीचे देखा गया। वैसे ही मंत्री की स्त्री के सामने कुछ पत्ते आकर गिरे। उसमें लिखा था, "बड़ी रस्सी के एक सिरे में मध्यम मोटाई की रस्सी, उसके ऊपर पतली रस्सी, उसके ऊपर मजबूत धागा तथा उसके सिरे पर रेशमी सूता बांधो। रेशमी सूते के सिरे पर कीड़े की पूँछ बांध दो। कीड़े के सिर पर थोड़ा मधु लगा उसे मेरी ओर छोड़ दो।"

बहुत कम समय में मंत्री की स्त्री ने सभी काम खतम किया। कीड़े ने मधु की गंध पाकर सोचा कि मधु ऊपर है एवं वह उपर उड़ने लगा। अन्ततः सीधे मंत्री के हाथ में जाकर उपस्थित हुआ। फिर धीरे-धीरे पतले, मध्यम एवं मोटी रस्सी भी मंत्री के हाथ में पहुँच गयी। दरवाजे के साथ मजबूती से मोटी रस्सी को मंत्री ने बांधा एवं धीरे-धीरे रस्सी के सहारे नीचे उतर आये।

स्त्री को लेकर मंत्री वन में भाग गये। जाते-जाते वे अपना राज्य छोड़ दूसरे राज्य में चले गए। कुछ दिन बाद ही शत्रुओं के द्वारा राजा मारे गये। सुयोग देख मंत्री फिर देश लौट आये एवं उन्होंने राजा के शिशुपुत्र को सिंहासन पर बैठाकर राज्य करना प्रारंभ किया। मंत्री के गुणों के कारण शान्ति लौट आयी एवं प्रजा के अधरों पर पुनः मुस्कान लौट आयी।

राष्ट्र में आज प्रगति क्यों नहीं है ? क्यों वह जड़भावापन्न है ? पहले राष्ट्र को शिक्षित करो, अपनी निजी विधायक संस्थाएँ बनाओ; फिर तो कानून आप ही आ जाएंगे।...आज राजा नहीं रहे; जिस नयी शक्ति से, जिस नये दल की सम्मति से नयी व्यवस्था गठित होगी, वह लोक-शक्ति कहाँ है ? पहले उसी लोक शक्ति को गठित करो। अतएव समाज सुधार के लिए भी प्रतम कर्त्तव्य है—लोगों को शिक्षित करना। और जब तक यह कार्य सम्पन्न नहीं होता, तब तक प्रतीक्षा करनी ही पड़ेगी।

स्वामी विवेकानन्द

मानव वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढ़ारकर
दो/४८, डाक-तार नगर, भोपाल

(१) वाद-विवाद विषाद बढ़ायी

एक बार गौतम बुद्ध कौशाम्बी में विहार कर रहे थे कि एक भिक्षु ने आकर उनसे कहा, "भगवन्! यहां के भिक्षु बहुधा आपस में विवाद करते रहते हैं और अपनी मुखरूपी बर्छों से एक-दूसरे को बींधते रहते हैं। अच्छा होता, आप उन्हें उचित शिक्षा देकर व्यर्थ के वाद-विवाद से परावृत्त करते।"

बुद्धदेव चुपचाप सुनकर उसके साथ मठ में गये। उस समय भी कुछ भिक्षु आपस में विवाद कर रहे थे। उन्हें सम्बोधित करते हुए वे बोले, "भिक्षुओं, तुम्हें परस्पर विवाद और कलह से बचना चाहिए, इसी में तुम्हारी भलाई है।" इस पर एक भिक्षु बोला, "भन्ते! आप हमारे कलह के बीच में न पड़ें। हम आपस में निपटने में समर्थ हैं।"

तब तथागत बोले, "आपस में निपटने से वैर भाव शान्त नहीं होता, बल्कि बढ़ता है। वैर भाव रहने से वाणी कठोर हो जाती है और जो कठोर वाणी का प्रयोग करते हैं, वे स्वयं को पण्डित समझते हैं। इस प्रकार का आचरण करने-वालों को न तो स्वयं की चिन्ता होती है और न संघ-भेद की। हम यदि अपने चारों ओर देखें तो हमें दिखायी देगा कि पशुओं को चुरानेवाले, नीच कर्म करने वाले और दूसरों के प्राण हरण करने वाले तक आपस में मिल-जुलकर रहते हैं, और यहां संघ में रहने वाले तुम लोग एक क्षण भी शान्ति से नहीं रह सकते। तुम्हें विनम्र, सदाचारी और धैर्यशाली लोगों की संगति का लाभ उठाना चाहिए और यदि तुम ऐसा नहीं करना चाहते, तो तुम्हारा संघ में रहने से क्या लाभ? क्या तुम नहीं जानते कि तुम्हारे वाद-विवाद से दूसरों की शान्ति में बाधा पहुँचती है? इसलिए उनके लिए तुम-जैसे मूर्खों की संगति की अपेक्षा अकेले ही विचरण करने में बुद्धिमानी है।"

(२) शिक्षा ताको दीजिए, जाको सीख सोहाय

एक बार गुरु गोविन्दसिंह के पास एक सीधा-साधा जाट आया और उसने उनसे नौकरी देने की विनती की। उन्होंने उसे घोड़ों की सेवा करने के लिए कहा। जब उन्होंने उसका नाम पूछा, तो उसने 'बेला' बताया। गुरु गोविन्दसिंह ने आगे पूछा, "क्या कुछ लिखना-पढ़ना आता है?" "जी नहीं," उसने जबाब दिया। तब वे बोले, "अच्छा! हम तुम्हें पढ़ाएँगे। आज से तुम इस वाक्य को रोज कहा करो — 'वाह भाई बेला, न पहचाने वक्त, न पहचाने बेला'।"

वह बेचारा इसे ही गुरू का मंत्र जान, रोज उसका जाप करने लगा। जब दूसरे शिष्यों ने उसे इस वाक्य की रट लगाते देखा, तो उन्होंने गुरूदेव से पूछा, "आपने बेला को यह कैसा वाक्य रटने के लिए दिया है?" गुरूदेव ने जबाब दिया, "जिसने बेला यानी वक्त को नहीं पहचाना, उसने

इस संसार में कुछ नहीं जाना। मगर जो बेला के महत्व को समझ पाएगा, वह निश्चय ही पार हो जाएगा।" बेला ने जब इसे सुना तो वह उस वाक्य को ज्यादा से ज्यादा दुहराने लगा। गुरूदेव उसकी निष्ठा से बहुत प्रसन्न हुए और वे उसे नित्य एकान्त में उपदेश देने लगे।

अन्य शिष्यों ने जब यह देखा, तो उन्हें बेला से ईर्ष्या हुई। आखिर उनमें से एक ने एक दिन गोविन्दसिंह जी से प्रश्न किया, "गुरूदेव, क्षमा करें, हमलोग आपकी निःस्वार्थ-भाव से सेवा करते हैं, लेकिन आप केवल इस निरक्षर बेला को ही उपदेश देते हैं।" गोविन्दसिंह ने उसके प्रश्न का जवाब न दे उससे कहा, "एक घड़ा भर भंग पिसो और घड़ा खत्म होने तक सब लोग उसका कुल्ला करो।"

घड़ा खत्म हो जाने पर उन्होंने हरएक से पूछा, "नशा चढ़ा या नहीं?' सबने उत्तर दिया, 'नहीं" जब उन्होंने बेला को बुलाया, तो सबने देखा कि उसे नशा चढ़ा है और नशे में भी वह 'वाह भाई बेला..' की रट लगाये हुए है। तब गुरूदेव उस शिष्य से बोले, "क्या तुम्हारे प्रश्न का जवाब मिल गया? बेला को भंग के साथ-साथ नाम का भी नशा चढ़ा है, क्योंकि उसने दोनों को दिल से ग्रहण किया है, जबकि तुमलोग कोई भी काम ऊपर ही ऊपर करते हो, दिल से नहीं। जान लो कि जब तक भगवान् के प्रति दिल से प्रेम न हो, तब तक मुक्ति नहीं मिल सकती।"

(३) परहित सरिस धर्म नहिं भाई

ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती पहले दिल्ली में रहते थे। बाद में वे अजमेर में आकर बस गये। एक बार उनके पास एक गरीब किसान आया और उसने उनसे विनती की कि वे उसे जमीन का इस्तनराटी (अधिकार पत्र) दिलाने में उसकी मदद करें।

ख्वाजा उसे लेकर दिल्ली गये। बात जब उनके पुत्र फखरूद्दीन को मालूम हुई, तो उसने उनसे कहा, "आप इतने से छोटे काम के लिए यहाँ आये हैं। यह काम तो आपका कोई भी खादिम कर सकता था। आपको इतनी तकलीफ उठाने की जरूरत नहीं थी।"

तब ख्वाजा ने उससे कहा, "बेटे! हमें बातों को हमेशा दूसरों की भलाई के लिए रहना चाहिए। यह किसान बड़ा दुःखी था। जब उसने मुझसे इस्तनराटी दिलाने की प्रार्थना की, तब मैंने नबी के दरबार में उसके लिए मिन्नत की और मुझे उधर से जबाब मिला—'रंजोगम में शरीक होना ही बंदगी है।' और मैं उसे लेकर यहाँ चला आया।"

उनके इन शब्दों से फखरूद्दीन लज्जित हो गया। उसने सुलतान इल्तुतमश से उसे मांडलगढ़ का पट्टा दिलवाया और अजमेर के लिए रवाना कराया।